दो शब्द

कबीर पढ़ते-पढ़ते जो कुछ भी विचार उठते रहे हैं यह पुस्तक उसका संक्षिप्त रूप है। इसमें क्या-कुछ कबीर के आलोचकों, गुरुजनों एवं मित्रों का है, और क्या कुछ मेरा, यह मुझे खुद भी स्मरण नहीं है। किसी भी रूप में, जहाँ कहीं भी मैंने दूसरों से सहायता ली है, मैं उनका आभारी हूँ। नामोल्लेख नहीं कर रहा, क्योंकि यह पुस्तक अपनी भूमिका में सबका नाम वहन करने के लिए बहुत छोटी है।

—लेखक

क्रम

१

पृष्ठभूमि

कबीर का जिस युग से सम्बन्ध है, उसकी ऐतिहासिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि मुसलमानों के आगमन से आरम्भ होती है। ये वही मुसलमान थे, जिनके धर्मग्रन्थ कुरान में तो यह लिखा है कि धर्म में विश्वास लाने के लिए बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, किन्तु जिनके धर्म के प्रचार और प्रसार का प्रत्येक पग विधर्मियों के रक्त में डूबा हुआ है। गजनवी, गोरी और मुहम्मद-बिन-बख्त्यार आदि के कृत्य इसके साक्षी हैं। १४वीं सदी के प्रथम चरण में मुहम्मद तुगलक को हम बादशाह पाते हैं। उसके पागलपन का जैसे प्रकृति पर भी प्रभाव पड़ा और दुर्भिक्ष आदि ने उसकी सनकों से संत्रस्त जनता के दुःख में कोढ़ में खाज का काम किया। उसके बाद फ़ीरोज़शाह आया जो अपनी धर्मांधता के लिए अपनी तुलना आप था। उसने एक ब्राह्मण को केवल इसलिए जिन्दा जलवा दिया था कि उसने सबके सामने हिन्दू धर्म के अनुसार पूजा की थी। हिन्दुओं के प्रति उसने तरह-तरह के अन्य भी अत्याचार किये। इसके बाद के बादशाह भी इससे बहुत भिन्न न थे। इसी बीच तैमूर का आक्रमण हुआ। उसने स्वयं एक जगह लिखा है कि उसका उद्देश्य था काफ़िरों को दंड देना। सचमुच ही उसने तरह-तरह से अपने उद्देश्यों की पूर्ति की और लौटते समय लाखों हिन्दू पुरुष, स्त्रियों और बच्चों को उसके सिपाही गुलाम बनाकर ले गए। लोदीवंश वालों ने भी इन्हीं परम्पराओं को

आगे बढ़ाया। फिरिश्ता के अनुसार, बुद्धन नाम के एक ब्राह्मण की सिकन्दर लोदी के सामने इसलिए हत्या कर दी गई कि उसने हिन्दू धर्म को भी इस्लाम जितना ही महान् कहा था। मंदिर तोड़कर मस्जिदें और सराएँ बनती थीं और मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी जाती थीं। हिन्दुओं पर तरह-तरह के कर लगते थे। उनको अपने धर्म का ठीक से पालन करने का अधिकार नहीं था। सिकन्दर लोदी ने तो यमुना में स्नान करने तक का निषेध कर दिया था।

यों भी वह समय हिन्दू धर्म के पतन-काल का था। धर्म का वास्तविक स्वरूप लोग भूल गए थे। तरह-तरह के कर्मकांडों और बाह्य आडंबरों को ही वास्तविक धर्म समझा जाने लगा था। अनेक देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी। छुआछूत जाति-पाँति, तंत्र मंत्र और जन्मना चारों वर्णों का भेद अपनी पराकाष्ठा पर था। ब्राह्मण शूद्रों की छाया तक से घृणा करते थे। शिक्षा का अभाव था। जो शिक्षित थे वे भी इन आडम्बरों में बँधे होने से अशिक्षितों के बराबर थे और उनका ज्ञान वाक्य ज्ञान से अधिक न था। कथनी-करनी में कोई सम्बन्ध नहीं था। धर्म के नाम पर जनता को लूटने और ठगनेवाले साधु गुरुओं आदि धर्म ध्वजियों की भी कमी न थी। वैष्णव, शैव, शाक्त और अन्यों का आपस में पर्याप्त विरोध था। इस प्रकार हिन्दू जनता भीतर से खोखली और बाहर से दबी हुई थी।

मुसलमान यद्यपि विजेता और शासक थे, किन्तु आतंरिक दृष्टि से वे भी इतने ही खोखले थे। वे भी धर्म को भूलकर अज़ान, हलाल मस्जिद, नमाज आदि आडंबरों को ही धर्म समझ बैठे थे। एकेश्वरवाद में विश्वास रखते हुए भी वे एकेश्वरवादी नहीं थे। हिंसा, मद्य, द्यूत, ऐश आराम उनकी दिनचर्या थी। हिन्दुओं को सताना और दबाना उनके लिए धर्म की जैसे चरम सिद्धि थी।

कबीर की इस प्रकार की रचनाएँ, जिनमें हिन्दू-मुसलमानों की तात्त्विक एकता, जाति-पाँति और सभी प्रकार के हिन्दू-मुसलमानों के

आडम्बरों का विरोध तथा आचरण पर बल आदि को अत्यन्त सशक्त रूप में अभिव्यक्ति दी गई है, उक्त परिस्थिति की ही प्रतिक्रिया है।

कहा जाता है कि भारत की भूमि में भी दर्शन की गन्ध है। यों तो यह विशेषता अपने मूल रूप में आर्यों के पूर्व की है, किन्तु इसे पूर्णतः चरितार्थ करने में शंकराचार्य का हाथ रहा है जिन्होंने मायावाद या अद्वैतवाद नाम से अपना मत रखा। बाद में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, माधवाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत और विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत रूप में नये सिद्धांत रखे। इन दर्शनों में शंकर के अद्वैत का अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन हुआ और कबीर के समय में सर्वसामान्य में बहुत प्रचलित न होते हुए भी विशेष वर्ग में इसका प्रचलन था। कबीर ने सत्संग में इसकी प्राप्ति वहीं से की।

मुसलमानों के साथ सूफी मतावलम्बी भी भारत में आये। यह मत अपने विकास-काल में ही भारतीय वेदान्त से प्रभावित था। यहाँ कबीर के काल में इसका पर्याप्त प्रचार था। शेख तकी सूफी ही थे, जिन्हें कुछ लोगों ने कबीर का गुरु भी कहा है। कबीर ने सूफियों से भी अपने काम की काफी बातें ग्रहण कीं।

बौद्ध धर्म कबीर के समय में जनता में अपने मूल रूप में तो न था, किन्तु महायान, सिद्ध, नाथ, निरंजन पंथ होते हुए इसकी काफ़ी बातें उस समय यहाँ के वातावरण में थीं। इनसे भी कबीर प्रभावित हुए बिना न रह सके।

वैष्णव संतों की धारा भी नामदेव, जयदेव से होती हुई बह रही थी। कहना न होगा कि कबीर का सर्वाधिक सम्बन्ध इसी से था, यद्यपि इस धारा से उन्होंने जितना लिया उससे कहीं अधिक दिया। साहित्यिक दृष्टि से उस काल में सिद्धों, नाथों तथा नामदेव, जयदेव एवं रामानन्द की रचनाएँ थीं, जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में कबीर के लिए साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। इनके अतिरिक्त तांत्रिक, शैव, जैन, निरंजन आदि मत या सम्प्रदाय भी उस युग में थे और इन्होंने प्रत्यक्ष या

प्रतिक्रिया रूप में कबीर को प्रेरणा दी। इस प्रकार इस संघर्ष-युग—हिन्
मुस्लिम का सांस्कृतिक धार्मिक संघर्ष, एक धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों क
पारस्परिक संघर्ष, वर्ण-वर्ण का संघर्ष, सगुण-निर्गुण का संघर्ष, ज्ञान
भक्ति का संघर्ष, विभिन्न दार्शनिक विचारों का संघर्ष, कथनी करनी क
संघर्ष, ऊँच-नीच का संघर्ष, संक्षेप में हर प्रकार का आंतरिक और बाह
संघर्ष—की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यि
पृष्ठभूमि में दो प्रकार की बातें थी। एक तो वे जो अशोभन ए
अनुचित थी और जिनका कबीर ने जोरदार शब्दों में विरोध किया
यह प्रतिक्रिया थी। दूसरी बातें वे थी, जिनको कबीर ने जीवन के लि
शोभन, उचित अत आवश्यक माना और बिना इस बात का ध्यान दि
कि वे कहाँ की थीं, उन्होंने ग्रहण किया और अपने ढंग से उन्हें
अभिव्यक्ति दी। यह था प्रभाव। कबीर जो कुछ भी हैं अपने अप्रति
व्यक्तित्व, प्रतिक्रिया और प्रभाव, इन तीनों के सुसयोजित योग-मात्र ही
है। उनकी क्रांतिदर्शी और व्यापक दृष्टि ने तीनों का ही सुनियोजित
रूप हमारे सामने रखा जो सत्यम् और शिवम् था और जो एकांगी, या
खंडांगी न होकर पूरे जीवन को समाहित कर लेने वाला।

जानेसु संत अनंत समाना ।

—तुलसी

संत औ राम को एकै करि जानिये ।

—पल्टूदास

'संत' किसे कहा जाए, यह भी प्रश्न यहाँ विचारणीय है। प्रसिद्ध संत कबीर कहते हैं

निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह।
बिषियाँ सूँ न्यारा रहै, संतनि को अंगएह ।

इस छंद में कबीर ने संत के लिए चार बातों पर बल दिया है, (१) निरबैरी अर्थात् संतो का कोई (जीव, मनुष्य, जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदि) भी शत्रु नही होता। वे अजातशत्रु होते हैं। (२) निष्काम कर्म—यह गीता का निष्काम कर्म है, अर्थात् संतो को बिना फल की इच्छा के कर्तव्य की दृष्टि से कर्म करना चाहिए। (३) भगवान् से प्रेम—संतो को भगवान् से प्रेम करना चाहिए। कौन भगवान् ? वही जो कण-कण में व्याप्त है। अर्थात् इसका व्यावहारिक रूप यह भी हुआ कि सभी के प्रति प्रेम-भावना रखनी चाहिए। (४) संसार से या सासारिक विषयो से अलग—अर्थात् संतो को उन सासारिक विषयों या आसक्तियों से दूर रहना चाहिए जो उपर्युक्त तीनो को अपनाने में व्याघात का कार्य करें।

संतो की और भी अनेक प्रकार की परिभाषाएँ दी गई हैं, किन्तु कबीर की परिभाषा या व्याख्या इतनी व्यापक है कि तत्त्वत और कुछ कहने को शेष नही रह जाता। यही वह स्थिति है, जो भारतीय मनीषियो की गतव्य रही है। हर धर्म, हर सम्प्रदाय का यह प्राप्य है, प्राप्ति के साधन चाहे जो भी हो।

आज 'संत' शब्द का प्रयोग प्राय तीन अर्थों में हो रहा है। इसका एक अर्थ तो अत्यंत सामान्य है, जिसमें निस्संगता, निष्पक्षता न्याय, सत्य-आचरण आदि पर बल रहता है। इस अर्थ में ऐसे किसी भी व्यक्ति के

लिए सत का प्रयोग होता है—'अरे उसे छोड़ो भी, वह तो सत है। न ऊधो का लेन, न माधो का देन।' दूसरे प्रयोग या अर्थ में सत शब्द 'भक्त' का समानार्थी है। इस अर्थ में कबीर, सूर, मीराँ, तुलसीदास आदि सभी सत हैं। 'सत' शब्द का 'तीसरा' अर्थ अपेक्षाकृत सकुचित है। इस अर्थ में वह निर्गुणिये सत कवियो, जैसे कबीर, दादू आदि, का समानार्थी है। हिन्दी-साहित्य के प्रसग में 'सतकाव्य', 'सतधारा' या 'सत कवि' आदि में सत शब्द इस तीसरे अर्थ का ही द्योतक है। तीसरा दूसरे से केवल इस बात में भिन्न है कि इसमें सर्वधर्म, सर्वजाति की समता तथा भगवान् के निर्गुण स्वरूप पर बल रहता है।

इन सतो या सत कवियो का सत मत समन्वय पर आधारित है। ये सत्य के अन्वेषी थे। सत्य इन्हें जहाँ भी मिला, इन्होंने उसे मुक्त-हृदय से अपनाया तथा 'थोथा' या 'असार' को—चाहे वह अपना ही क्यों न हो—निस्सगता से छोड़ दिया। ये सारग्राही 'सूप' थे जो 'सार-सार को गहि रहे थोथा देइ उड़ाय।' कबीर ने इन्हें 'मधुप' उचित ही कहा है। हर सम्भव स्रोत से रस एकत्र करके उनके समन्वय से अपना सतमत रूपी मधु तैयार किया

> कबीर औगुन ना गहै, गुन ही कौं लै बीन।
> घट-घट महु के मधुप ज्यौं, पर आतम लै चीन्ह।

सतों की परम्परा जयदेव से मानी जाती है। यह जयदेव 'गीत गोविंद' के जयदेव से कदाचित् भिन्न हैं। इनके दो पद 'गुरुग्रथ साहब' में सगृहीत हैं। जयदेव का काल लगभग १२वीं सदी ज्ञात होता है। जयदेव से लेकर आधुनिक काल तक के सतों को आदि, मध्य तथा आधुनिक, इन तीन कालों में रखा जा सकता है। आदिकालीन सत काव्य १२वीं सदी से लगभग १५वीं सदी के अन्त तक है। मध्यकाल १५०० से १८०० तक है तथा आधुनिक काल १८०० के बाद से है। आदिकालीन सतों में जयदेव के अतिरिक्त सेधना, कसाई (१३वीं सदी), बेनी या वेणी (१३वीं सदी), त्रिलोचन (र० काल १३०० ई० के आसपास), नामदेव

(१२६९-१३५० ई०), रामानन्द (१२९९-१३१० ई०), सेना नाई (र० का० १४वीं सदी मध्य), कबीर, पीपाजी (र० का० १५वीं स मध्य), रैदास (र० का० १५वीं सदी उत्तरार्ध), कमाल (र० का १५वीं सदी अन्तिम चरण के आसपास) तथा धन्ना (र० का० १५०० आसपास) आते हैं। इनमें सेना, कबीर, पीपा, और रैदास रामानन्द के शिष्य कहे जाते है। इस प्रकार आदिकालीन संतो में रामानन्द और उनकी शिष्य-मण्डली ही प्रमुख है। सबसे अधिक और उच्चकोटि का साहित्य कबीर का मिलता है। महत्व की दृष्टि से दूसरे क्रम पर रैदास हैं। नामदेव की भी ६० से ही कुछ ऊपर रचनाएँ मिलती हैं। रामानन्द के इससे भी कम छंद मिलते है। पीपा और कमाल के और भी कम छंद उपलब्ध हैं। शेष के प्राप्त छंद चार-छ: से अधिक नहीं हैं।

मध्ययुग के प्रसिद्ध संतों में जभनाथ (१६वीं सदी प्रथम चरण), नानक (र० का० १६वीं सदी पूर्वार्द्ध), अंगद (१५०७—१५५२ ई०), अमरदास (१४७९—१५७४ ई०), रामदास (१५३४—१५८१ ई०), धर्मदास (र० का० १६वीं सदी उत्तरार्द्ध), दादू दयाल (१५४४—१६०३), अर्जुनदेव (१५६३—१६०६ ई०), बखना (र० का० १६वीं सदी उत्तरार्द्ध), गरीबदास (१५७५—१६३६ ई०), हरिदास निरंजनी (र० का० १७वीं सदी प्रथम चरण), तेगबहादुर (१६२२—१६७५ ई०) मलूकदास (१५७४—१६८२ ई०), रज्जबजी (१५६७—१६८९ ई०) सुन्दरदास (१५९६—१६८९ ई०), यारी साहब (र० का० १७वीं सदी उत्तरार्द्ध), धरनीदास (र० का० १७वीं सदी तीसरा चरण), बूलासाहब (१६३२—१७१३ई०), गुलाल साहब (१७५९ ई० मृत्युकाल), जगजीवनदास (१६७०—१७६१ ई०), दूलनदास (१६६०—१७७८ई०), दरियासाहब (मारवाड़ वाले) (१६७३—१७५८ ई०), दरियासाहब (बिहार वाले)(१६७४—१७८० ई०), गरीबदास(१७१७—१८७८ई०), चरनदास (१७०३—१७८२ ई०), सहजोबाई (र० का० १८वीं सदी उत्तरार्द्ध), तथा दयाबाई (र० का० १८वीं सदी उत्तरार्द्ध) आदि हैं।

इनमें विशेष महत्त्व नानक, दादू, मलूकदास, रज्जब, सुन्दरदास तथा धरनीदास को ही है। गांभीर्य और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से दादू कदाचित सर्वोपरि कहे जा सकते हैं। आदिकाल की तुलना में इस काल के कवियों की प्रायः अधिक रचनाएँ उपलब्ध हैं।

आधुनिककालीन संत कवियों में रामहरसदास (र० का० लगभग १९वीं सदी प्रथम चरण), पलटू साहब (र० का० १९वीं सदी पूर्वार्द्ध), तुलसी साहब (र० का० वही), तथा शिवदयाल (१८१८—१८७८ ई०) आदि हैं।

विकास की दृष्टि से संत-साहित्य को वास्तविक स्वरूप सर्वप्रथम कबीर में मिला। उनके पूर्व का संत-काव्य सच्चे अर्थों में संत-काव्य और संत-मत की भूमिका-मात्र है। कबीर तथा दादू में संत-साहित्य अपने ऊर्ध्वतम बिन्दु पर मिलता है। उसके बाद हर दृष्टि से प्रायः इसके ह्रास का प्रारम्भ हो जाता है। यों गिनाने के लिए उनके बाद भी अनेकानेक कवि मिले हैं और मिलते जा रहे हैं, किन्तु उनके नामों तथा उनके साहित्य से हिन्दी-साहित्य की वृद्धि ही हुई है, समृद्धि नहीं।

की रूढ़ियों एवं उनके आडम्बरों तथा अधविश्वासों पर इन लोगों ने ब सशक्त और व्यग्यपूर्ण शब्दों में प्रहार किया है। समाज की हर दुर्बल ने इनका ध्यान आकर्षित किया और इन लोगों ने उसका बड़ी निर्भयता पूर्वक खुलकर विरोध किया। दर्शन की दृष्टि से प्राय सभी अद्वैतवादी थे। इनकी साधना ज्ञान, भक्ति और योग, तीनों के समन्वय पर आधारित थी। ये निर्गुण ब्रह्म के खोजी थे। इनका धर्म मनु के धर्म की तरह समाज-सापेक्ष है। चारित्रिक उच्चता पर इन्होंने बहुत बल दिया है। भारतीय परम्परा व अन्य भक्तों की तरह इन लोगों ने भी नारी की निन्दा की है तथा उसे भक्ति-पथ का बाधक माना है। इनके काव्य में उपदेश, नीति तथा विचार का प्राधान्य है। भाव की दृष्टि से अपवाद स्वरूप ही कुछ सुन्दर स्थल मिल सकते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर साहित्यिक परम्पराओं से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है, इसीलिए इनकी शैली में साहित्यापेक्षित कलात्मकता नहीं है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि इनकी शैली में सौन्दर्य नहीं है। उसमें सौन्दर्य और आकर्षण है, किन्तु वह कृत्रिम और परम्परानुमोदित न होकर सहज प्रकृत और ताजा है। उसका सौन्दर्य उद्यान का न होकर प्रकृति-पोषित वन का है। संतो की भाषा प्राय लोक-भाषा है, साथ ही उनमें अनेक-भाषीय रूपों का मिश्रण है। उलटवासियों में तथा अन्यत्र भी प्रतीकों के प्रयोग मिलते हैं। इन प्रतीकों में कुछ तो सिद्धों और नाथों की परम्परा से आए हैं और कुछ इनके अपने हैं। सभी ने मुक्तक छद लिखे हैं जो साखी या दोहरा, पद या सबद रमैनी, रेखता आदि शीर्षकों में विभाजित हैं। समवेत रूप से देखने पर कहा जा सकता है कि संतो की वैचारिक उपलब्धियाँ पर्याप्त हैं, और वे कवि से अधिक चरित्रवान्, चिन्तक तथा उपदेशक हैं।

२
जीवन

कबीर के जीवन एवं उनके काल पर प्रकाश डालने वाली बहिस्साक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री तीन प्रकार की है—

(क) कबीर से संबद्ध वस्तुएँ तथा स्थान।

(ख) जनश्रुतियाँ।

(ग) ग्रंथों के प्रमाण।

यहाँ संक्षेप में इनको क्रम से लिया जा रहा है।

(क) कबीर से संबद्ध वस्तुएँ तथा स्थान

संबद्ध वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—चित्र और पादुकाएँ। कबीर के दस-ग्यारह चित्र मिलते हैं। इनमें 'ब्रिटिशम्यूज़ियम', कुँवर संग्रामसिंह, कबीर चौरा, युगलानन्द तथा गुरु अर्जुनदेव के गुरुद्वारे के चित्र प्रमुख हैं। एक चित्र में कबीर कमाल, औघडनाथ, पीपाजी, नामदेव, रैदास, सेना, गोरखनाथ, मछिन्दरनाथ तथा कुछ अन्य भक्तों के साथ दिखाये गए हैं। कुछ चित्रों में उन्हें दाढ़ी, माला, टीका, कंठी तथा महन्तों की कुछ अन्य चीज़ों से भी युक्त दिखाया गया है। चित्रों की अन्य उल्लेख्य बातें ये हैं—(क) वह वृद्ध दिखाये गए हैं। (ख) उन्हें कपड़ा बुनते दिखाया गया है। (ग) उनके शीश से प्रकाश-रश्मियाँ फूटती दिखायी गई हैं। (घ) हिन्दू-मुसलमान दोनों उनके प्रति श्रद्धालु चित्रित किये गए हैं।

चित्रों की उपर्युक्त बातों से अनुमानतः पाँच निष्कर्ष निकाले जा

सकते हैं—

(१) कबीर वृद्धावस्था तक जीवित रहे।

(२) बहुत पहले से लोगों में उनके प्रति श्रद्धा है और वह अवतार पुरुष-जैसे मान पाते रहे हैं।

(३) वह जुलाहे थे या कपड़ा बुनते थे।

(४) उनका सम्बन्ध नामा और सेना से था।

(५) हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए वह आदरणीय व वन्द्य थे।

दो पादुकाएँ कबीर की कही जाती हैं। एक मगहर में है और दूसरी काशी में कबीरचौरा में। इनसे अधिक-से-अधिक यह निश्चय निकाला जा सकता है कि कबीर पादुका पहनते थे।

कबीर से सबद्ध कई स्थान कहे जाते हैं जिनमें प्रमुख मगहर और काशी हैं। मगहर में पास-पास दो मठ हैं। एक में मुसलमानों द्वारा बनी कब्र है और दूसरे में हिन्दू ढंग की समाधि जिनसे उनके गाड़े और जलाए जाने वाली जनश्रुति को बल मिलता है। काशी में कबीरचौरा नामक स्थान भी कबीर से सबद्ध माना जाता है। यहाँ दो हाते हैं जिनमें एक का सम्बन्ध कबीर से तथा दूसरे का नीरू-नीमा से कहा जाता है। यहीं नीरू-नीमा की कब्रें भी हैं। कबीर वाले हाते में एक कुआँ है जिसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उसी पर बैठकर कबीर उपदेश दिया करते थे। कबीरचौरा से थोड़ी दूर पर लहर तालाब है। इनसे भी उनके जीवन पर कुछ प्रभाव पड़ता है।

(ख) जनश्रुतियाँ

अन्य संत-महात्माओं की भाँति ही कबीर के सम्बन्ध में भी कबीर पंथियों तथा उत्तर भारत की सामान्य जनता में तरह-तरह की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इनमें कुछ का आधार तो सत्य हो सकता है किन्तु अधिकांश उनके प्रति श्रद्धालु जनता की श्रद्धा के फल रूप में ही विकसित हुई हैं। इस दूसरी श्रेणी की जनश्रुतियाँ अन्धविश्वास और अन्धभक्ति पर आधारित हैं। ऐसी जनश्रुतियों में न तो इतिहास का

काल का ध्यान रखा गया है (जैसे गोरख और कबीर का वादविवाद) और न सम्भवता-असम्भवता का (जैसे कबीर के कहने से मगहर में नदी का फूट पड़ना आदि)। लोगों ने किसी भी प्रकार कबीर को सर्वशक्तिमान सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में यह भी कह देना अयथा न होगा कि ऊपर जिन चित्रों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है तथा आगे जिन पुस्तकों की चर्चा की जाएगी, उनमें अधिकांश में प्राप्त कबीर-विषयक सामग्री किसी-न-किसी प्रकार की जनश्रुति पर ही आधारित है। इतिहासवेत्ता इस बात से अपरिचित नहीं हैं कि आईने-अकबरी-जैसी कृतियों—जिनको इतिहास की आधार-सामग्री माना जाता है—में भी बहुत सी घटनाओं का आधार जनश्रुति ही है। इस प्रकार यद्यपि 'जनश्रुति' नाम इस बात का जैसे प्रमाण-सा है कि इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, किन्तु यह भी असंदिग्ध है कि तथाकथित प्राचीन अनेकानेक प्रामाणिक ग्रंथों के विवरण मूलत: जनश्रुतियों पर ही आधारित हैं। इस प्रकार उनका अधिकांश जनश्रुतियों से अधिक कुछ नहीं है।

कबीर के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियाँ लगभग चालीस हैं, जिनसे कबीर के जीवन, पालन-पोषण उनके विवाह, व्यवसाय, उनकी गुरु, भगवान् तथा भक्तों में श्रद्धा आत्मविश्वास, सत्य के प्रति अटूट निष्ठा, पर्यटन, वादविवाद, जीवन तथा मरण-काल, मृत्यु, पुत्र-पुत्री, स्त्री तथा माता पिता आदि के सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है। आगे यथास्थान इनमें से कुछ का उल्लेख किया जाएगा।

(ग) ग्रन्थों के प्रमाण

रही हो। कबीर से संबद्ध एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है, जिसे इस प्र का कहा जा सके। यह बिना हिचक के कहा जा सकता है कि नी उल्लिखित ग्रंथों की संबद्ध सामग्री मात्र जनश्रुति पर आधारित है। आव यह है कि अपने निष्कर्षों को उन पर आधारित करने में अत्यंत सावधान अपेक्षित है, और सुनिश्चित प्रमाण के रूप में तो उनमें से संभवत किसी को भी नहीं लिया जा सकता।

(१) भक्तमाल—नाभादास ने इसकी रचना १५८५ ई० के लग भग या कुछ बाद में की। इसमें कबीर के सम्बन्ध में एक छप्पय है, किन्तु एक दूसरे छप्पय से भी, जो रामानन्द से संबद्ध है, कबीर के बारे में कुछ पता चलता है। इन छप्पयों के आधार पर केवल तीन-चार बातें कही जा सकती हैं—(क) कबीर रामानन्द के शिष्य थे। (ख) इस ग्रंथ के रचनाकाल तक उनका देहान्त हो चुका था। (ग) उन्होंने रमैनी, सबदी और साखियाँ रची। (घ) हिंदू-मुसलमान समभाव, जाति-वर्ण विरोध तथा भक्ति आदि उनकी प्रमुख विशेषताएँ थीं।

(२) कबीर साहब की परचई—कबीरदास का यह प्रथम जीवन चरित है और इसके लेखक अनंतदास हैं। इसकी रचना भक्तमाल के कुछ बाद या लगभग उसी काल में हुई है। इससे कबीर के सम्बन्ध में प्रमुखत निम्नांकित बातों का पता चलता है—(क) जुलाहा थे। (ख) काशी में रहते थे। (ग) रामानन्द के शिष्य थे। (घ) रंग साँवला था और सुन्दर थे। (ङ) सिकन्दरशाह और बीरसिंह बघेला के समकालीन थे। (च) १२० वर्ष तक जीवित रहे।

(३) भक्तमाल की टीका—प्रियादास ने १६४५ ई० में भक्तमाल पर यह टीका लिखी। इसमें अधिकांश बातें 'परचई' की ही दी गई हैं। विशेष उल्लेख्य बातें दो हैं—(क) रामानन्द के आशीर्वाद से विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना, तथा (ख) नीरू-नीमा नाम के जुलाहे-दम्पति द्वारा पाला-पोसा जाना।

(४) निर्भय ज्ञान—इसके लेखक धर्मदास हैं। इसमें उल्लेख्य

ात केवल एक है। कबीर की मृत्यु के बाद उनके शव के लिए वीरसिंह
घेला और बिजली खाँ में युद्ध की नौबत आ गई। किंतु अंत में शव
के स्थान पर कुछ फूल पाकर दोनों ने आधा-आधा बाँट लिया और
एक ने हिन्दू की तरह जलाया, दूसरे ने मुसलमान की तरह दफनाया।

(२) कबीर चरित्र बोध—कबीर पंथ में यह ग्रंथ बहुत मान्य है।
इसमें उल्लेख्य बातें केवल दो हैं—(क) कबीर का जन्म संवत् १४५५
में ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार को हुआ था। (ख) वह किसी के गर्भ
से उत्पन्न न होकर काशी के लहर तालाब में प्रकाश रूप में उत्पन्न
हुए थे।

(६) खजीनतुल असफिया—इसके लेखक गुलामसरवर हैं। इसमें
उल्लेख्य बातें दो हैं—(क) वह शेख तकी के शिष्य थे। (ख) इनका जन्म
सन् १३९४ ई० में हुआ था।

(७) आईने-अकबरी—इस प्रसिद्ध ग्रंथ में कबीर के सम्बन्ध में दो
बातें महत्त्वपूर्ण हैं—(क) कबीर की मृत्यु के बाद शव के लिए हिंदू-
मुसलमानों में विरोध हुआ था। (ख) इनकी समाधि के सम्बन्ध में मत-
भेद है। एक मत से अवध में रतनपुर में, दूसरे मत से पुरी के समीप।
आईने-अकबरीकार अबुलफज़ल दूसरे मत के पक्ष में है।

(८) रामरसिकावली—रघुराजसिंह के इस ग्रंथ में कबीर के सम्बन्ध
में बहुत सी बातें दी गई हैं, जो प्रायः जनश्रुतियों में मिलती हैं। सबसे
विचित्र बात यह है कि कबीर का जन्म रामानन्द के आशीर्वाद से विधवा
ब्राह्मण की हथेली से हुआ था।

अन्य ग्रंथों में 'सैयरुल अकताब', 'कबीर परिचय', 'मतरावुतमारीख',
'तजकिरतुल्फुकरा', 'दबिस्ताने मजाहिब', 'प्रसंग पारिजात', गरीबदास तथा
पीपा आदि की बानी आदि प्रमुख हैं, जिनमें कबीर के संबंध में संक्षेप
में कुछ बातें मिलती हैं।

अंतस्साक्ष्य के रूप में भी कुछ सामग्री कबीर के नाम से प्राप्त
रचनाओं में मिलती है, किन्तु इसका ठीक उपयोग कर पाना बहुत कठिन

है।'कबीर' नाम के सतकवि मध्य-युग में दस से ऊपर हो चुके हैं। प्राप्त रचनाओं में कितनी उन कबीर की है, जिसकी हम चर्चा कर रहे और कितनी अन्य कवियों की, इसका निर्णय कर पाना बहुत कठिन है इतना ही नहीं, कबीर के नाम पर बाद में उनके अनेक भक्तों ने भी बहुत-कुछ लिख दिया है। कहना न होगा कि इस दूसरी श्रेणी के प्रक्षिप्तांश में कबीर की जीवनी के सम्बन्ध में जो कुछ भी उपलब्ध है, उसका आधार जनश्रुति ही रहा होगा। इस प्रकार अंतस्साक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री भी बहुत प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। यों, जैसा कि हम आगे देखेंगे, समय, माता पिता, जाति, निवास, स्त्री, पुत्र आदि के सम्बन्ध मे उनकी कई पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

उपर्युक्त सामग्रियो के आधार पर अब कबीर की जीवनी पर विचार किया जा सकता है।

नाम

कबीर ने अपने छन्दो मे प्राय अपने नाम की छाप लगाई है। कहीं कहीं तो इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख है कि उनका नाम कबीर ही था:

जाति जुलाहा नाम कबीरा बन बन फिरौं उदासी।

या

कबिरा तुही कबीर तू तेरो नाम कबीर।

बहिस्साक्ष्य से भी इसी नाम की पुष्टि होती है। इनके नाम के सम्बन्ध में दो जनश्रुतियां हैं—(१) इनका जन्म विधवा ब्राह्मणी के हाथ के अंगूठे से हुआ था, अत यह 'कबीर' या 'करबीर' कहलाए। (२) दूसरे मत से नीरू जब कबीर को लेकर उनके नामकरण-संस्कार के लिए काजी के यहाँ पहुँचे और काजी ने कुरान खोली तो 'कबीर' 'अकबर', 'कुबरा' और 'कुबरिया', ये चार नाम निकले, किन्तु चारों ही जुलाहे के लड़के के योग्य नहीं थे। इतने में कबीर बोल उठे— हम आत्मरूप तथा शब्द प्रकाशी हैं। यह सुनकर काजी ने पहला नाम अर्थात् 'कबीर' रख दिया।

कहना न होगा कि दोनो ही किवदंतियाँ सत्य से दूर हैं।

पंथ में तथा विभिन्न पुस्तकों में कबीर के 'कबीर', 'कबीर साहब', 'कबीर दास', 'हंस कबीर' आदि नाम भी मिलते हैं। इनमें 'कबीर' तो उनका यथार्थ नाम है; 'कबीर साहब' पंथ में आदरार्थ कहते हैं; भक्त होने पर लोग उन्हें 'कबीर' से 'कबीर दास' कहने लगे थे। उन्होंने स्वयं भी 'दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया' आदि रूप में इस नाम का प्रयोग किया है। विचारदास ने बीजक की भूमिका में 'हंस कबीर' को 'मुक्तात्मा' का वाचक कहा है। कहीं-कहीं 'कबीरा' 'कबिरा' 'कबिरन' भी मिलता है। यह तोड़-मरोड़ 'कबीर' की ही है, जो छंद की आवश्यकतानुसार हुई है, यों विचारदास, इन विकृत रूपों को 'अज्ञानी गुरु' आदि का बोधक मानते हैं, किन्तु प्रसंगों को देखने से यह अर्थ ठीक नहीं उतरता।

कबीर ने 'कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाँव' में अपने नाम के 'मोती' होने का भी उल्लेख किया है, किन्तु स्पष्ट ही यहाँ कुत्तों के प्रचलित नाम को अपने स्वामी राम का कुत्ता बनने के लिए उन्होंने ग्रहण किया है। इससे उनके नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जाति

कबीर के नाम से मिलने वाली रचनाओं में उनकी जाति के सम्बन्ध में लोगों ने अनेक पंक्तियाँ या छंद खोज निकाले हैं। कुछ प्रमुख ये हैं—

(क) पिता हमारो बड़ गुसाईं।

(ख) तू बाम्हन मैं कासी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना।

या

मेरे राम की अभयपद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।

या

जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।

या

जाति जुलाहा मति को धीर। हरषि हरषि गुन रमै कबीर।

(ग) परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।

हरि को नांव अभयपद दाता, कहै कबीरा कोरी।

(घ) सायर तीर न वार न पारा। कहि समुझावे रे कबीर बनजारा

(ङ) कबीर ने अपने एक छद में अपने को कुम्हार, धोबी, च तेली, छत्री, नाऊ, बढ़ई, बधिक, बनजारा, केवट आदि होकर उ काम करने का उल्लेख किया है। उस पद की दो पक्तियाँ हैं—

कुंभरा ह्वै करि बासन धरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊँ।
चमरा ह्वै कर रगौ अँधौरी, जाति-पाँति कुल खोऊँ।

उपर्युक्त में 'ङ' स्पष्ट ही उनकी जाति को स्पष्ट करने वाला न है। यह बात पूरे छद या उसके उपर्युक्त उद्धरण से तो स्पष्ट है ही, इस अतिरिक्त कबीर एक साथ इतनी अधिक जातियो के नही हो सकते। पहले उद्धरण में कबीर अपने पिता को 'गुसाईं' कहते हैं। इस आधा पर उन्हें 'गुसाईं' (अतीथ या बैरागी) जाति का कहा जा सकता है, कि यह पूरा छद, जिसमें से यह पक्ति ली गई है, देखने से यह स्पष्ट है जाता है कि यहाँ 'पिता' 'परमात्मा' के लिए आया है न कि 'बाप' लिए। इसी प्रकार 'गुसाईं' यहाँ जाति का वाचक न होकर जितेन्द्रि (गो+स्वामी, गोसाईं) का बोधक है।

'घ' में बनजारा 'व्यापारी' का वाचक है। अन्यत्र भी कबीर उसका इस अर्थ में प्रयोग किया है। साथ ही अन्य पुस्तको या जनश्रुति में कही भी उनके बनजारा होने की बात नही मिलती, अत. उनकी जा बनजारा नही मानी जा सकती।

'ग' में कबीर के 'कोरी' होने की बात है। 'कोरी' हिन्दू जुलाह को कहते है। कबीर को जनश्रुतियाँ 'जुलाहा' अर्थात् मुसलमान कहती है। रैदास कहते हैं—

'जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊरे बध करहि'

'कबीर कसौटी' में आया है—

'भाग तुरकनी यार जुलाहा बेटा भक्त भए'

'दबिस्ताने मजाहिब' में मोहसिन फ़ानी कहते हैं—

'कबीर जुलाहानजाद'

'रयाजुल मजाहिब' में कबीर से सबद्ध भाग का शीर्षक है—

'अहवाल कबीर जुलाहानजाद'

ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि 'मोरी' के तुक के कारण ही जुलाहे के अर्थ में यहाँ कोरी का प्रयोग है। यह भी सभावना हो सकती है कि उस समय से कुछ पूर्व ही कोरी (हिन्दू) धर्म-परिवर्तन करके जुलाहे (मुसलमान) हुए थे, अत धार्मिक दृष्टि से कोरी-जुलाहे में भेद होने पर भी एक-दूसरे के लिए पूर्णतया अप्रयुक्तव्य नहीं थे, इसी कारण तुक की दृष्टि से कबीर ने प्रयोग कर दिया। जुलाहे के लिए अन्यत्र भी कबीर में 'कोरी' का प्रयोग इस बात को और बल देता है—

कहँहि कबीर करम से जोरी
सूत कुसूत जिने भल कोरी ॥

इस प्रकार उनके 'कोरी' होने की बात भी अमान्य है।

अनाम्या ख्यना करते हैं। यों कहना ही हो तो कहा जा सकता है जहाँ उन्होंने अपने को हिन्दू मुसलमान से अलग माना है, वहीं वे अर्थात् जुगी से भी अलग माना है—

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घट घट रह्यो समाई।

इस प्रकार जिस तर्क से द्विवेदीजी कबीर को हिन्दू-मुसलमान से अलग सिद्ध करना चाहते हैं, उसी तर्क से वह जुगी के भी बाहर सिद्ध हो जाते हैं। द्विवेदीजी का यह भी कहना है कि 'जुगी' जाति के लोग जलाए भी जाते हैं और गाड़े भी, इसी प्रकार कबीर के बारे में हुआ। यों तो यह जनश्रुति है, किन्तु यदि इसे सत्य भी मानें तो कबी के इस प्रकार किए जाने में और जुगियों की सामान्य परम्परा में के साम्य नहीं। विशेष स्थिति में हिन्दू-मुस्लिम दोनों वर्गों के श्रद्धालुओं में संघर्ष बचाने के लिए कबीर की ऐसी गति हुई किन्तु जुगियों में यह एक परम्परा है, उसका सम्बन्ध परिस्थिति विशेष से नहीं है। इस प्रकार यह साम्य मात्र सायोगिक है।

अब अंतिम मत उठाया जा सकता है जिसके अनुसार कबीर जुलाहे थे। अंतस्साक्ष्य के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि कबीर में ऐसी पंक्तियाँ काफ़ी हैं जिनसे उनका जुलाहा होना सिद्ध होता है। जनश्रुतियाँ में भी प्रायः सभी इसी पक्ष में हैं। कबीरपंथी लोग भी इसी को सत्य मानते हैं। कबीर के प्राप्त चित्रों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। प्राचीन लेखकों में भी अस्सी प्रतिशत से अधिक लोगों का यही मत है। 'कबीर कसौटी', 'दबिस्ताने मज़ाहिब' और 'ख्यासुल मज़ाहिब' से उद्धरण ऊपर दिए जा चुके हैं। कबीर के समकालीन कहे जाने वाले रैदास भी उन्हें जुलाहा कहते हैं। अन्य संत भी इसी पक्ष में हैं—

धना—

बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनी जग हीरा॥

(धना भी कबीर के समकालीन कहे जाते हैं।)

रज्जब—

जुलाहाघरे उत्पन्यो साध कबीर।

नानक—

नाम छीपा, कबीर जुलाहा पूरे गुर ते गति पाई।

इसी प्रकार अनन्तदास, अमरदास, तुकाराम आदि ने भी इन्हें जुलाहा ही कहा है। आधुनिक विद्वानों में भी अधिकांश इसी मत के हैं। इस प्रकार यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनकी जाति या पेशे के बारे में तर्कपुष्ट आधारों का अभाव ही माना जाएगा, किन्तु जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उससे उनके 'जुलाहा' होने की ही सम्भावना अधिक है।

माता-पिता

कबीर की रचनाओं में 'माई' और 'बाप' शब्द कई स्थानों पर आए हैं, किन्तु उनमें कबीर के माता-पिता पर कोई खास प्रकाश नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध में अब तक चार मत सामने आए हैं —

(१) उनकी उत्पत्ति सामान्य मनुष्य की तरह नहीं हुई थी। वह दिव्य पुरुष थे और (क) हाथ या हाथ के अँगूठे से, या (ख) लहर तालाब में कमल पर उत्पन्न हुए थे, या (ग) प्रकाश रूप में अवतरित हुए थे।

(२) विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से रामानन्द के आशीर्वाद से पैदा हुए थे और नीरू-नीमा द्वारा पाले-पोसे गए थे।

(३) नीरू-नीमा के औरस पुत्र थे।

(४) विधवा ब्राह्मणी से अष्टानन्द गोसाईं के पुत्र थे।

इनमें चौथे का उल्लेख केवल अहमदशाह ने किया है, और उन्होंने इसके लिए कोई आधार नहीं दिया है। जनश्रुति या पुराने लेखकों में भी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में इसे मान्य नहीं माना जा सकता। कबीरपंथियों में पहले मत के प्रति आस्था है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, यह मत तीन रूपों में पेश किया जाता है। एक के अनुसार कबीर प्रकाश रूप में अवतरित हुए। दूसरे के अनु-

सार लहर तालाब में एक कमल पर उत्पन्न हुए। तीसरे के अनुसा हाथ या हाथ के अँगूठे से (एक मत से विधवा ब्राह्मणी के हाथ से उत्पन्न हुए और 'करबीर' या 'कबीर' कहलाए। कहना न होगा कि इस प्रकार की बाता पर आज विश्वास करने का प्रश्न ही नही उठता।

अब दूसरे और तीसरे में हो कोई मान्य हो सकता है। किन्तु स्थिति यह है कि इन दोना में किसी के भी पक्ष में ऐसे अकाट्य प्रमाण नहीं हैं कि उसे अंतिम रूप में स्वीकार कर लिया जाए। दूसरे के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कभी एक ब्राह्मण अपनी विधवा पुत्री के साथ रामानन्द के यहाँ आया। पुत्री के प्रणाम करने पर रामानन्द ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया, जिसके फलस्वरूप उसे पुत्र हुआ और उसने लोक लाज से उसे लहर तालाब के पास फेंक दिया। सयोग से उधर से अली उर्फ नूरुद्दीन (नीरू) अपनी स्त्री नीमा के साथ आ रहा था। (एक मत से नीरू गौना कराकर अपनी पत्नी के साथ आ रहा था)। लडके को देख इन लोगो ने उसे उठा लिया और घर लाकर पाला-पोसा। कहना न होगा कि इसमें आशीर्वाद वाली बात तो क्षेपक है। मूलत इस अवैध सम्बन्ध की बात रही होगी। इस मत को जनश्रुति, कुछ पुराने लेखको और कुछ नये लेखको का बल प्राप्त है। तीसरे मत के अनुसार कबीर नीरू-नीमा के औरस पुत्र थ। इसके पक्ष में बडथ्वाल, श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० रामकुमार वर्मा आदि हैं। पुराने ग्रथा ('कबीर कसौटी', 'दबिस्ताने मजाहिब' आदि) तथा कबीर की कुछ पक्तियो पर लोग इस मत को आधारित करते हैं।

माय तुरकनी बाप जुलाहा,
—कबीर कसौटी

कबीर जुलाहाजाद,
—दबिस्ताने मजाहिब

बादि दिलासा मेरो कीन्हा,
× ×

हमरे कुल कौने राम कह्यो,
—कबीर

जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहिं,
मानियहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप ऐसी करी पूत ऐसी सरी
तिहूरे लोक परसिध कबीरा। —रैदास

कहना न होगा कि इन पंक्तियों से 'औरसता' का ही संकेत मिलता है, 'पोष्यता' का नहीं। किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि जन्म के दिन से ही पालन-पोषण करने वाला भी तो पिता ही कहलायेगा, और उसके कुल में पालित होने के कारण कबीर उसी के कुल के कहलायेंगे। ऐसी स्थिति में विधवा ब्राह्मणी के औरस और नीरू-नीमा के पोष्य होने पर भी कबीर के बारे में उपर्युक्त पंक्तियाँ कही जा सकती हैं। इतना होने पर भी उपर्युक्त पंक्तियाँ औरसता की ओर अधिक झुकी हैं, अत: प्राप्त सामग्री के आधार पर कबीर के नीरू-नीमा के औरस पुत्र होने की ही सम्भावना अधिक है।

जन्म-स्थान

कबीर के जन्मस्थान के विषय में तीन[1] मत हैं—

(क) आजमगढ़ जिले में बेलहरा गाँव में उत्पन्न हुए थे।

(ख) उनकी जन्मभूमि मगहर थी।

(ग) काशी में उत्पन्न हुए थे।

बनारस के गजेटियर में प्रथम मत का उल्लेख है। यहाँ बेलहरा या बेल्हर पोखर नामक गाँव है। इस मत के अनुसार यहीं कबीर पैदा हुए।

---

१. उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त एक चौथा मत यह भी है कि इनका जन्म मिथिला में हुआ था। इस मत के प्रस्तुतकर्ता डॉ० सुभद्र झा हैं। उपर्युक्त आजमगढ़ वाले मत की भाँति ही अब यह मत भी पूर्णतया अमान्य सिद्ध हो चुका है।

जनश्रुति से यह सा पता लगता है कि यहां भीट पर कभी जुलाहे रहा करते थे किन्तु यहाँ कबीर पैदा हुए थे, इस बात का प्रमाण कहीं से भी मिलता। शायद 'लहर तालाब' और 'मगहर पोखर' के साम्य के कारण गजेटियर के लेखक को भ्रम हो गया और उन्होंने इसे कबीर का जन्म मान लिया।

दूसरे मत का आधार है एक छंद—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई।

इसमें 'दरसन' का अर्थ 'संसार में आना' लगाकर कुछ लोग इसका अर्थ करते हैं जन्म मगहर में हुआ और बाद में काशी आ बसे।

सच पूछिए तो यह बात गले से नहीं उतरती कि 'दरसन' का प्रयोग कबीर ने जन्म लेने के लिए किया होगा। इसका सीधा अर्थ है भगवान का साक्षात्कार या स्वानुभूति। शायद बनारस की भीड़ भाड़ से दूर मगहर में जाकर एकान्त में चिन्तन-मनन करते थे और वहाँ भगवान की अनुभूति होने पर वह काशी लौटे। इस प्रकार इस छंद के आधार पर उन्हें मगहर में उत्पन्न नहीं माना जा सकता। इस बात के लिए भी कोई प्रमाण नहीं है कि उनके माता पिता मगहर के निवासी थे। उनकी समाधि के होने की ही जनश्रुति है और वहाँ उनका होना भी है। या कबीर की जन्मभूमि के सम्बन्ध में भी जनश्रुति एवं कुछ पुराने लेखक बनारस के ही पक्ष में हैं।

डा० त्रिगुणायत ने अपनी थीसिस में मगहर को ही जन्मभूमि माना है और उसके लिए पाँच छः प्रमाण दिए हैं। वह कहते हैं कि मगहर में जुलाहे बहुत हैं अतः वहाँ कबीर का जन्म लेना सर्वथा संभव है। संभव तो है किन्तु केवल वहाँ जुलाहों का आधिक्य ही इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता। डा० त्रिगुणायत आगे कहते हैं—कबीरदासजी ने अपनी रचनाओं में मगहर की कई बार चर्चा की है इसका तात्पर्य है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था उन्होंने उसे सदैव काशी के समकक्ष पवित्र

और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है। इसके उत्तर में निवेदन है कि कई बार चर्चा या घनिष्ठ सम्बन्ध से ही किसी स्थान को जन्मभूमि नहीं सिद्ध किया जा सकता और जहाँ तक मगहर के प्रति श्रद्धा-भावना का प्रश्न है, यह मानना कि जन्मभूमि होने के कारण उनकी उसके प्रति श्रद्धा थी, कबीर के प्रति अन्याय है। जिसका संसार और अपने-आप से ही मोह नहीं उसका जन्मभूमि से क्या मोह होगा ? यह तो सामान्य आदमियों की चीज है, कबीर-जैसे महान् व्यक्तित्व इस प्रकार अपनत्व के बन्धन में नहीं बँध सकते। वस्तुतः काशी की तुलना में मगहर के प्रति प्रेम दिखाने में कबीर का मात्र उद्देश्य है उस अंधविश्वास को हिला देना, जिसके अनुसार काशी में मरने वाला, स्वर्ग जाने वाला और मगहर में मरने वाला नरक जाने वाला माना जाता है। कबीर ने कहा है—'किआ कासी किआ मगहरु राम रिदै जो होई।'

डॉ० त्रिगुणायत का तीसरा तर्क है—'कबीर मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गए थे। उन्होंने काशी में रहना उचित नहीं समझा। यह मानव-स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है, वहीं मरना चाहता है।' कबीर के सम्बन्ध में यह कथन भी अन्याय है। संसार को छोड़ने के लिए साधना में तपने वाला सामान्य मानव की इस कमजोरी में कदापि नहीं बँध सकता। वस्तुतः जैसा कि पीछे कहा जा चुका है मरने के लिए काशी छोड़कर मगहर जाने में उनका उद्देश्य उसी अंधविश्वास की जड़ें काटना है—

'जो कबिरा कासी मरे रामहि का न निहोर'

कबीर संसार को दिखाना चाहते थे कि शुभ कार्य और भक्ति से आदमी की मुक्ति होती है, स्थान-विशेष पर मरने से नहीं। वह आजीवन इसी प्रकार हमारे अंधविश्वासों को चकनाचूर करते रहे और अंत समय भी अपना यह मंतव्य न भूल सके। आगे डॉ० त्रिगुणायत ने जन्म-भूमि में पहुँचकर कबीरदास को शान्ति मिलने की बात कही है। वस्तुत

कबीर को जन्मभूमि में पहुँचने से भला शान्ति कब मिल सकता थी उनका शान्ति का रहस्य तो कुछ और था। तारे भरोसे मगहर बसिऊँ मरे तन की तपन बुझाई में भी वह स्पष्ट कहते हैं कि हे भगवान! तुम्हारे भरोसे अथवा तुम्हारे चरणों में समर्पित भक्ति के भरोसे मैं मगहर में बस रहा हूँ। यहाँ भी संकेत उसी अंधविश्वास के विरोध की ओर है। डा० त्रिगुणायत का अंतिम तर्क यह है कि मगहर में बना मकबरा या रौजा मूलतः कबीर के जन्म का स्मारक रहा होगा। उनके इस अनुमान के लिए भी कोई आधार नहीं है। वह स्पष्ट ही मकबरा है और यों प्रायः मकबरे ही बनाए जाते रहे हैं। जन्म-स्मारक का प्रचलन उस काल प्रायः नहीं मिलता। इस प्रकार कबीर की जन्मभूमि को मगहर में सिद्ध करने के लिए कोई भी पुष्ट तर्क दिखाई नहीं पड़ता।

तीसरा मत काशी के सम्बन्ध में है। कबीर ने स्वयं अपने को काशी का जुलाहा (मैं काशी का जुलाहा) कहा है। अन्यत्र भी कहा है—

सगरा जनम सिवपुरी गवाइआ।
मरती बार मगहर उठ आइआ।

नीरू-नीमा के होने से भी इसी मत को बल मिलता है। जनश्रुति भी बनारस में ही जन्मभूमि मानने के पक्ष में है। कबीर चरित्र बोध आदि पुस्तकों से भी इसी का संकेत मिलता है। कबीरपंथी लोगों में भी यही मत मान्य है।

इस प्रकार या तो पूर्ण निश्चय के साथ कुछ भी कहना कठिन है, किन्तु उपलब्ध आधारों पर काशी में जन्म की सम्भावना अधिक है। इस सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ भी उद्धरणीय हैं—

लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु परकास भए

× × × ×

संवत बारह सौ पाँच में ज्ञानी कियो विचार।
काशी परगट भयो शब्द कहो टकसार।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इस मान्यता के आधार पद्य के

पंथ तथा पथ में प्रचलित मान्यताएँ है, और इन्हें प्रामाणिक नही माना जा सकता। वस्तुत यह एकमात्र आधार तो नही है, किन्तु एक आधार अवश्य है। इसमें कोई सदेह नही है कि कबीर की महिमा दिखाने एव उन्हें दीर्घायु वाला सिद्ध करने के लिए उनके पथ वालो ने उनके सम्बन्ध में तरह-तरह की किवदन्तियाँ जोड ली है तथा जन्म-मृत्यु के सन्-सवत् भी इधर-उधर किये है, किन्तु जन्म-स्थान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलने से कबीर का महत्त्व किसी भी रूप में नही बढाया जा सकता। ऐसी स्थिति मे इस सम्बन्ध में उनकी बात को अप्रामाणिक मानने को कोई खास कारण दिखाई नही पडता। उसे इधर-उधर करने में भला उनका क्या उद्देश्य हो सकता है?

विद्याध्ययन

'जैसा कि प्रसिद्ध है कबीर पढे लिखे नही थे।' उन्होने कहा भी है—

'विद्या न पढ़उ वाद नहिं जानउ'।

किन्तु पुस्तकीय ज्ञान न होने पर भी जीवन का अध्ययन उन्होने इतना अधिक किया था कि पुस्तकीय ज्ञान की उन्हें अपेक्षा नही रह गई थी। उनकी मेधा, क्रातदर्शी दृष्टि एव अनुभव ने उन्हें वह अपार ज्ञान उपलब्ध करा दिया जिसने सहज ही उन्हें युग-पुरुष बना दिया।

पत्नी और संतान

कबीर की पत्नी के बारे में विवाद है। पथ के लोगो का विश्वास है कि उन्होने विवाह नही किया था। जनश्रुति है कि उनका विवाह हुआ था और उनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। पथ के लोग 'लोई' को उनकी शिष्या मानते है, जिसे किसी साधु ने कभी एक छोटी बच्ची के रूप में एक लोई (ऊनी कबल) में लिपटा पाया था। कुछ लोग यह भी मानते है कि बाद में यही शिष्या उनकी पत्नी बन गई। 'लोई' से उनके इस प्रकार के सम्बन्ध मानने का आधार है उनकी रचना में 'लोई' का प्रयोग। इसका प्रयोग प्राय सबोधन के रूप में हुआ है, जैसे वह अपनी पत्नी या शिष्या को सबोधित करते हुए रहे हो—

कहत कबीर सुनहु रे लोई। हरि बिन राखनहार न कोई।

अन्य प्रकार के प्रयोग भी 'लोई' के हैं जैसे—

माया मोह भूले सब लोई।

या

का नट भेष भगवा वस्तर भसम लगावें लोई,

कुछ लोगों का विचार है, इन दूसरे प्रकार के उदाहरणों में 'ल' का अर्थ लोग (सं० लोक, लोग, लोय, लोई, लोइ) है। मेरा अप विचार है कि प्रथम प्रकार के प्रयोगों में भी 'लोई' का अर्थ 'लो है और कबीर समाज लोगों को सबोधित करके कह रहे हैं। गलती से लोगों ने 'लोई' को स्त्री समझ लिया और यह जनश्रुति चल पड़ी कि क विवाहित थे। कबीर की सारी रचनाओं में कहीं भी 'लोई' या 'ल का प्रयोग ऐसा नहीं है, जहाँ 'लोग' अर्थ ठीक न जँचे। ऐसी स्थिति इन छन्दों के आधार पर 'लोई' को कबीर की स्त्री नहीं माना ज सकता।

डॉ० रामकुमार वर्मा उनकी दो स्त्रियाँ मानते हैं। उनका आधार है—

मेरी बहुरिया को धनिआ नाउ।

लै राखिओ रामजनिया नाउ।

इसमें रामजनिया' का अर्थ वेश्या मानकर वह कहते हैं कि कबीर की दूसरी स्त्री वेश्या थी।[1]

इसके लिए एक और संकेत है—

मरी मरी मुई मेरी पहिली बरी।

जुग जुग जीवउ मेरी अब की धरी,

कहु कबीर जब लहुरी आई, बडी का सुहाग टरिओ।

लहुरी सगि भई अब मेरे, जेठी अउरु धरिओ।

कुछ लोग दो में पहली को 'लोई' और दूसरी को 'धनिया' मानते हैं।

---

१ रामजनिया का अर्थ 'भगतिन' भी हो सकता है।

रे विचार में दूसरे उदाहरण में तो अर्थ सांकेतिक है। पहली 'कुमति' ौर दूसरी 'सुमति'। प्रथम से विवाह का कुछ अनुमान अवश्य लगता है, दि यह प्रक्षिप्त न हो। किन्तु निश्चय के साथ कहने के लिए आधार का भाव है।

कबीर के संतान के सम्बन्ध में भी यही अनिश्चय की स्थिति है। ई प्रकार की जनश्रुतियाँ हैं। एक के अनुसार उन्हें एक 'कमाल' नाम का ुत्र था। उसकी प्रवृत्ति धन की ओर थी, अतः लोगों ने कहा—

> बूडा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।
> हरि का सुमिरन छाडि के भर ले आया माल॥

एक अन्य मत से इनके एक 'कमाली' नाम की पुत्री भी थी। एक तीसरे मत के अनुसार इनके दो पुत्र कमाल और निहाल, तथा दो पुत्रियाँ 'कमाली' और 'निहाली' थीं। एक जनश्रुति यह भी है कि कमाल उनका पुत्र न होकर शेख तकी का या किसी और का पुत्र था और जो मर गया था उसे कबीर ने जीवित कर दिया। तकी ने इस कृत्य को कमाल कहा और उसी आधार पर उसका नाम कमाल पड़ गया। इस प्रकार की और भी कई जनश्रुतियाँ हैं।

गुरु

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में चार मत हैं—

(१) कोई भी 'मानव' कबीर का गुरु नहीं था।
(२) कबीर के गुरु शेख तकी थे।
(३) कबीर के गुरु कोई पीताम्बर पीर थे।
(४) कबीर के गुरु रामानन्द थे।

पहले मत के पोषक डॉ० मोहनसिंह हैं। उनके अनुसार कबीर ने जहाँ भी गुरु का प्रयोग किया है, उसका अर्थ ब्रह्म है, अर्थात् उनका कोई मानव गुरु नहीं था। किन्तु जब हम कबीर के—

> गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय,

मेरे विचार में दूसरे उदाहरण में तो अर्थ सांकेतिक है। पहली 'कुमति' और दूसरी 'सुमति'। प्रथम से विवाह का कुछ अनुमान अवश्य लगता है, यदि यह प्रक्षिप्त न हो। किन्तु निश्चय के साथ कहने के लिए आधार का अभाव है।

कबीर के संतान के सम्बन्ध मे भी यही अनिश्चय की स्थिति है। कई प्रकार की जनश्रुतियाँ हैं। एक के अनुसार उन्हें एक 'कमाल' नाम का पुत्र था। उसकी प्रवृत्ति धन की ओर थी, अत लोगों ने कहा—

बूडा वंस कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाडि के भर ले आया माल ॥

एक अन्य मत से इनके एक 'कमाली' नाम की पुत्री भी थी। एक तीसरे मत के अनुसार इनके दो पुत्र कमाल और निहाल, तथा दो पुत्रियाँ कमाली' और 'निहाली' थीं। एक जनश्रुति यह भी है कि कमाल उनका पुत्र न होकर शेख तकी का था किसी और का पुत्र था और जो मर गया था उसे कबीर ने जीवित कर दिया। तकी ने इस कृत्य को कमाल कहा और उसी आधार पर उसका नाम कमाल पड़ गया। इस प्रकार की और भी कई जनश्रुतियाँ हैं।

गुरु

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में चार मत हैं—

(१) कोई भी 'मानव कबीर का गुरु नहीं था।
(२) कबीर के गुरु शेख तकी थे।
(३) कबीर के गुरु कोई पीताम्बर पीर थे।
(४) कबीर के गुरु रामानन्द थ।

पहले मत के पोषक डॉ० मोहनसिंह हैं। उनके अनुसार कबीर ने जहाँ भी गुरु का प्रयोग किया है, उसका अर्थ ब्रह्म है, अर्थात् उनका कोई मानव गुरु नहीं था। किन्तु जब हम कबीर के—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागूँ पाय,

या

राम नाम के पटतरं देवे को कछु नाहि ।
क्या ले गुरु सतोषिये होंस रही मन माहि ।

जैसे छदा को देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है उनका गुरु स आशय ब्रह्म या भगवान् से इतर किसी मानव गुरु से है । एसी स्थिति में मानव-गुरु मानना ही पडता है ।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी तथा वेस्टकट ने शेख तकी को कबीर का गुरु माना है । इसका आधार है गुलाम सरवर की खजीनतुल असफिया पुस्तक । इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि इस पुस्तक का अधिकाश बातें अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं अत इसे प्रमाण मानना बहुत उचित नही। दूसरे, शख तकी दो हो गए हैं—एक झूँसी वाले और दूसरे मानिकपुर वाले । झूँसी में कबीरनाला' तो है किन्तु और कोई आधार नही मिलता जो दोनो के सम्बन्ध को स्पष्ट कर सके । बीजक में एक तकी का उल्लेख है जिसे विद्वानो न मानिकपुर वाले तकी को माना है। किन्तु एसा लगता है कि उन शख से कबीर का कुछ विवाद-सा हुआ था और उनके प्रति कबीर की श्रद्धा नही थी । पक्तियाँ हैं--

नाना नाच नचाय के नाचे नट के भेख ।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख ।

निश्चय ही उस गुरु को कबीर इस प्रकार सबोधित नही कर सकते जिसे वे गोविन्द से भी बडा मानते थ ।

तीसरा मत अतःसाक्ष्य पर आधारित है । कबीर ग्रथावली' में आया है--

हज्ज हमारी गोमती तीर ।
जहाँ बसहि पीताम्बर पीर ।

डा० बडथ्वाल के अनुसार गोमती तीर का अर्थ जौनपुर' (उत्तर प्रदेश) है । किन्तु यह स्पष्ट नही है कि वहा य पीताम्बर पीर कौन थ जिनके यहा जाना कबीर हज्ज' में जाना मानते थ । कुछ भी हो उन्हें 'गुरु' मानन के लिए हमारे पास कोई आधार नही है—न तो जनश्रुति

का और न पुराने लेखकों का। यह भी असम्भव नहीं है कि यहाँ 'पीर' का अर्थ 'गुरु' न हो और 'पैगम्बर पीर' व्यक्ति-विशेष का 'पीर' का काम करने के कारण नाम रहा हो, जिसके प्रति कबीर की श्रद्धा रही हो और जिसके दर्शनार्थ वह जाते रहे हों।

अंतिम मत रामानन्द के सम्बन्ध में है। यह मत कबीरपंथियों में प्रचलित है। जनश्रुतियों द्वारा भी यह अनुमोदित है। 'भक्तमाल', 'कबीर साहब की परचई', 'दबिस्ताने मजाहिब', 'तजकिरुल फाकेरा' आदि अनेक प्राचीन ग्रंथ भी यही मत देते हैं। भक्त के रूप में रामानन्द और कबीर की विचारधारा में पर्याप्त साम्य है। कबीर की कुछ पंक्तियों में रामानन्द का नाम भी है—

(क) रामानन्द रामरस माते। कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके।
(ख) कहै कबीर दुबिधा मिटी, जब गुरिया मिलिया रामानन्द।
(ग) कबीर रामानन्द का सतगुर मिले सहाय।

कुछ लोग इन पंक्तियों को प्रक्षिप्त मानते हैं। भक्ति के प्रसार के सम्बन्ध में एक साखी प्रायः उद्धृत की जाती है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नौ खण्ड॥

इन सारी बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कबीर के गुरु के सम्बन्ध में बहुत निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है, किन्तु प्राप्त सामग्री के आधार पर रामानन्द के ही गुरु होने की सम्भावना अधिक है। कुछ लोग काल के आधार पर इसका विरोध करते हैं किन्तु पूरी समस्या पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काल के कारण कोई व्यवधान नहीं पड़ता।

कहा जाता है कि पहले कबीर ने किसी को भी अपना गुरु नहीं बनाया था, इस पर लोग उन्हें 'निगुरा' कहकर चिढ़ाते थे। कबीर भी किसी योग्य गुरु को पाने के लिए चिन्तित थे। अंत में उनका मन रामानन्द पर जमा और एक दिन बहुत सुबह वे उस रास्ते में सीढ़ियों

पर लेट गए जिधर से रामानन्द नहाने जाया करते थे। रामानन्द का पैर ज्योंही कबीर पर पड़ा उनके मुँह से 'राम-राम' निकल पड़ा। कबीर ने इसी को गुरु-मन्त्र मान लिया और तब से वह अपने को रामानन्द का शिष्य कहने लगे। बाद में रामानन्द ने भी उन्हें बड़े प्रेम से अपनाया।

यात्राएँ

कबीर ने यात्राएँ खूब की थीं। सत्संग करने वह प्रायः जाया करते रहे होंगे। विभिन्न पुस्तकों में इस सिलसिले में जगन्नाथपुरी, मानिकपुर, जौनपुर, पंढरपुर, गुजरात तथा भड़ोंच के नाम मिलते हैं। भड़ोंच के पास 'कबीरवट' नाम का एक वृक्ष भी है।

शिष्य

वीरसिंह बघेला, बिजली खाँ, सुरगोपाल, धर्मदास, तत्त्वा, जीवा तथा जग्गूदास आदि उनके प्रमुख शिष्य कहे जाते हैं।

जीवन-काल

कबीर के जीवन-काल के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद रहा है। कुछ प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

	जन्म	मृत्यु	आयु
वेस्टकट	?	१५७५	?
के	१४९७	१५७५	७८ वर्ष
डॉ० मोहनसिंह	?	?	लगभग ६० वर्ष
हरिऔध	१४५५	१५५२	९७ वर्ष
श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल	१४५६	१५७५	११९ वर्ष
डॉ० बड़थ्वाल	१४२७	१५०५	७८ वर्ष
क्षितिमोहनसेन	१४५५	१५०५	५० वर्ष
मेकालिफ और			

डॉ० भडारकर	१४५५	१५७५	११९ वर्ष
डॉ० रामकुमारवर्मा	१४५५	१५५१	९६ वर्ष
कुछ कबीरपंथी भक्त	१२०५	१५७५	३७० वर्ष

कबीर की जन्म तिथि के सबध में निम्नाकित आधार प्राप्त है --

✓ (१) कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास का एक छद है :

चौदह से पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए।
घन गरजे दामिनि दमके, बूँदें बरसें झर लाग गए।
लहरतालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु परकास भए।

(२) कबीर के जन्म के सम्बध में दूसरा प्रसिद्ध दोहा है

सवत् बारह सौ पांच में ज्ञानी कियो विचार।
काशी परगट भयो शब्द कह्यो टकसार।

✓ (३) कबीर ने अपनी रचनाओं में कुछ सतो का नाम लिया है, उससे भी उनके काल निर्धारण में सहायता मिलती है—

(क) सनक सनदन जैदेव नामा। भगति करी मन उनहुँ न जाना।

इसमें जयदेव नामदेव के नामो से सहायता मिल सकती है। इन दोनों का काल क्रम स १२ वी और १३ वी सदी है।

✓ (४) कबीर का उल्लेख आईन-अकबरी (रचनाकाल १६५३ वि०) में एक मृत व्यक्ति के रूप में मिलता है।

(५) गुलाम सरवर के खजीनतुल असफिया में कबीर का जन्म १६५१ वि० दिया गया है।

इन पांचोंमें तीसरा (अतस्साक्ष्य होने के कारण) और चौथा (आईने-अकबरी की बाकी बातें ठीक है) अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। अर्थात् कबीर के काल की ऊपरी सीमा १३वी सदी के बाद और निचली सीमा १६५३ वि० के पूर्व है। इसका आशय यह है कि पाँचवां बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि १६५३ के पूर्व मरने वाले का जन्म १६५१ नही माना जा सकता। चित्रों के आधार पर हम देख चुके हैं कि वे वृद्ध

होकर मरे थे। उनकी कविता में भरा अनुभव भी कुछ इसी प्रकार की गवाही देता है। दूसरा आधार भी इसी प्रकार व्यर्थ है, क्योंकि नामदेव के कारण १३वीं सदी के बाद ही उनका जन्म सम्भव है। अब प्रथम आधार लिया जा सकता है, जो उनके प्रमुख शिष्य का लिखा कहा जाता है। इसके अनुसार उनका जन्म १४५५ वि० है। इसके पक्ष में निम्नांकित बातें कही जा सकती हैं :

(१) यह पद्य में मान्य है। (२) उनके प्रमुख शिष्य का लिखा है। (३) इसे मान लेने पर जयदेव, नामदेव और आईने-अकबरी पर आधारित निष्कर्ष भी ज्यों-के-त्यों रहते हैं। (४) सिकंदरलोदी (जिसने कबीर को परेशान किया था) तथा रामानन्द (जो इनके गुरु थे) के समय से भी यह मेल खा जाता है। (५) दूसरे संवत् (१२०५) के अशुद्ध सिद्ध हो जाने के बाद यही अकेला बचता है (६) हरिऔध, मिश्रबंधु, सेन, मेकालिफ, डा० भंडारकर, डा० रामकुमार वर्मा आदि अनेक विद्वानों को मान्य है। (७) डा० श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल को भी पहले यही मान्य था, किन्तु गणना करने पर तिथि ठीक (जेठ सुदी पूर्णमासी, चन्द्रवार) न निकली और १४५६ में वह ठीक निकली, अतः 'साल गए' का अर्थ 'एक साल बीतने पर' लगाकर उन लोगों ने इसे १४५६ माना। बाद में डा० माताप्रसाद गुप्त ने स० र० पिल्ले के ग्रंथ (इंडियन क्रॉनालजि) के आधार पर हिसाब लगाया तो १४५५ ही ठीक निकला। इसका आशय यह है कि डा० दास और शुक्लजी इस तिथि-अशुद्धि के व्यवधान के दूर कर दिए जाने पर अब इसी को स्वीकार करते।

यों, किसी पूर्ण ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधार के न मिलने के कारण इस तिथि को पूर्णतः विश्वसनीय तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राप्त-सामग्रियों के आधार पर इसी की सम्भावना सर्वाधिक है।

(ख) मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में चार छंद प्रचलित हैं :

(१) सम्बत पन्द्रह सै पछत्तरा कियो मगहर गौन।
माघ सुदी एकादसी रलौ पौन में पौन।

(२) पन्द्रह सै उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादसी मिले पौन में पौन।

(३) सुमत पन्द्रा सौ उनहत्तरा हाई ।
सतगुर चले उठ हँसा ज्याई ।

(४) सवत् पन्द्रह सौ औ पाँच मो, मगहर को कियो गवन।
अगहन सुदी एकादसी, मिले पवन में पवन।

(ख) 'भक्ति-सुधा विन्दु-स्वाद' के अनुसार मृत्यु १५५२ वि० में हुई थी।

(ग) जनश्रुति है कि कबीर एक सौ बीस वर्ष तक जीवित रहे। अनन्त दास ने भी यही माना है । एक छद है—

बालपनो धोखा में गयो।
बीस बरिस में चेतन भयो।
बरिस सौ लगि कीनो भगती।
ता पीछे सो पाई मुकती।

(घ) 'ब्रिग्ज के अनुसार स० १५५३ वि० में कबीर की लोदी से भेंट हुई थी।

(ङ) गुरु नानक की भेंट कबीर से १५५३ वि० में मानी जाती है।

यदि 'घ' 'ङ' को सत्य मानें तो १५०५, १५५२ और १५४९ अशुद्ध सिद्ध होते हैं। शेष बचे दो। अब यदि १२० वर्ष तक जीवित रहने की जनश्रुति ठीक मानें, तो १५६९ भी गलत ठहरता है, और केवल १५७५ ठीक उतरता है। इसी कारण वेस्टकट, के, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, मैकालिफ तथा भडारकर आदि ने इसी को ठीक माना है। जन्म तिथि की ही तरह अकाट्य ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सामग्री पर न आधारित होते हुए भी, प्राप्त सभी सवतो में इसके सत्य होने की सभावना सर्वाधिक है।

मृत्युस्थल

कबीर की मृत्यु, पथ में, तथा अन्य भी अनेक लोगों द्वारा, मगहर मानी जाती है। उनकी रचनाओं में इसके सकेत हैं—

'मरती वार मगहरि उठि धाइया'

इस 'मगहर' को 'मगह' नहीं माना जा सकता, यद्यपि बुद्ध धम कारण ही मगह के बारे में प्रसिद्ध था कि 'मगह मरै तो गदहा होय या मगह में मरन वाला नरकवासी होता है'। बाद में यह अधविश्वा ध्वनि साम्य के कारण 'मगहर' पर भी लाद दिया गया। अबुलफजल आईने अकबरी में तथा ट्रैवर्नियर ने अपने ट्रैवल्ज में कबीर के पुरी जगन्नाथ मदिर के निकट दफनाए जाने का उल्लेख किया है। पुरी गजटियर से भी इसकी पुष्टि होती है। सभवत किसी एक ही जनश्रुति पर ये तीनो आधारित है और जो आज प्रचलन में नहीं रह गई है। इसी प्रकार उनकी समाधि के रतनपुर में होने का उल्लेख भी आईने अकबरी में मिलता है। खुलासउत्तवारीख में भी एसा ही लिखा है। कहना न होगा कि आज अधिकांश विद्वान 'मगहर' के ही पक्ष में हैं यद्यपि बहुत निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है।

यह है कबीर के जीवन की मोटी रूपरेखा। जैसा कि स्थान-स्थान पर सकेत किया गया है इसमें अधिकाश बातो की सभावना मात्र है। पुष्ट और अकाट्य तर्कों से प्रामाणित नहीं है और प्रामाणिक सामग्री अभाव के कारण उनके एसा होने की निकट भविष्य में आशा भी नहीं है

व्यक्तित्व

कबीर अथ से इति तक क्रातिकारी थे—क्राति की प्रतिमूर्ति क्राति स्वतत्रता का दूसरा नाम है व सब-तत्र स्वतत्र थे। कोई बधन नहीं बडा उच्च पुराना आर्ष शास्त्र सम्मत परम्परागत का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। महत्व था तो सत्य का। वे सच्चे अर्थों में सत्यान्वेषी थे। मौलिक सत्यान्वेषी—पडित मुल्ला जो लिख दिया छाँडि चले हम कछु न लिया। बहुत उद्भट सत्यान्वेषी होने के कारण ही वे असत्य—

वैषमता, आडम्बर, पाखण्ड, अंधविश्वास, अनीति—के विरुद्ध लड़ने वाले सच्चे सूरमा थे। और एक सच्चे सूरमा की भाँति उन्होंने थकना, हतोत्साह होना या पीछे हटना सीखा ही नहीं था। उन्होंने सच्चे सूर की परिभाषा भी दी है— पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़े, तऊ न छाड़ै खेत।' ऐसे अडिग और अथक योद्धा में अक्खड़पन का होना भी स्वाभाविक ही है। जन्मजात अक्खड़, मस्तमौला फक्कड़। किसी की चिन्ता नहीं। खरा, लागलपेट से दूर, निर्भीक, स्पष्टवादी और आत्मविश्वास के जैसे अवतार। कबीर की वे पंक्तियाँ, जिनमें लोगों को 'अहं' की गंध मिलती है, वस्तुतः आत्मविश्वास से अनुप्राणित हैं। लोक में उनके नाम से प्रसिद्ध एक दोहे—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ।

में उनके अंगार जैसे व्यक्तित्व—जो बुरे को जलाने और अच्छे पथ प्रकाशित करने की सामर्थ्य रखता है—का कबीरी शैली में बड़ा सुन्दर चित्र है।

वे एक जन्मजात नेता थे। सुधरे सुधारक। आज के नेताओं की तरह नहीं जो घंटाघर की तरह दूसरों को जगाते हैं और स्वयं सोये रहते हैं। वे सच्चे अर्थों में नेता थे। कुछ कहने के पहले वे उसे सोचकर और समझकर अनुभूत कर लिया करते थे, और फिर पूरी ईमानदारी से और इसीलिए शक्ति से अभिव्यक्त किया करते थे। इसीलिए उनका आकर्षण अन्य कवियों का सा मोहक नहीं, अपितु झकझोर देने वाला है। उनकी शैली लट्ठमार इसीलिए है कि उनका व्यक्तित्व भी वैसा ही था। 'शूगरकोटेड पिल्ज़' में उनका विश्वास नहीं था। कुनैन शक्कर सी लगे, यह उन्हें पसन्द न था। जो उन्हें कहना था, सीधे और मुँह पर कहना और करना चाहते थे। सोचना, कहना, करना तीनों ही उनके यहाँ एक साथ और एक-से थे। एक दुनियादार को यह अटपटा भले लगे किन्तु, इसमें सच्चाई और ईमानदारी का आकर्षण है, जिसका कार्य हृदय को रससिक्त करना नहीं अपितु प्रसुप्त चेतना को उद्बुद्ध करना, उद

वर्तन का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इन लिपिबद्ध होने में देर का सबसे बड़ा दुष्परिणाम तो यह हुआ कि कबीर की रचनाएँ उसी क्रम में हमारे सामने न आ सकी, जिस क्रम में वे कही गई थी। इसीलिए कबीर या उनकी विचारधारा का सहज विकास हमारे सामने नही आ पाता। दार्शनिक या वैचारिक दृष्टि से कबीर में बहुत से स्थानो पर जो आत्मविरोध मिलता है, वह इसी कारण है। जो क्रम आज उपलब्ध है, उनमें जैसे यदि पहला छद ४० वर्ष की आयु में का लिखा है तो दूसरा १०० का, तीसरा २५ का और चौथा ७० का। इस प्रकार के व्यतिक्रम कबीर में भरे पड़े हैं, और ऐसा होना ही वैसी स्थिति में स्वाभाविक भी है। उनकी कला और भाषा को समझने में भी यह गड़बड़ी बहुत बाधक है।

इतना ही नही हुआ। यह स्थिति तो उस समय थी, जब प्रथम बार वे लिपिबद्ध हुए। आगे उनकी रचनाओ की इस प्रकार की भाषा, भाव और क्रम के परिवर्तन की गड़बड़ी और भी बढ़ती गई। इसके भी कई कारण हैं। कबीर मध्ययुग से लेकर आज तक बहुत ही जनप्रिय कवि रहे हैं। उनकी रचनाएँ तानपूरे की शोभा भी बढ़ाती रही हैं, और हम जानते हैं कि इस क्षेत्र में स्वर या भाषा की दृष्टि से सो परिवर्तन किये ही जाते हैं, गाने वाला कापी किताब से नही गाता, अत भूलने पर अपनी ओर से जोड़ने की भी पूरी गुँजाइश रहती है। कबीर में पाठ-भेदो के अम्बार का एक कारण यह भी है। इसके अतिरिक्त कबीर की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे सतो के अनेक सप्रदाय और उपसप्रदाय विकसित हो गए जिसमें आपस में वैचारिक, धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से भी अतरो का विकास हुआ। कबीर सभी में पूज्य थे, अत उनकी रचनाओ की प्रतिलिपि सभी सप्रदाय वालो जैसे निरजनी, दादूपथी, कबीरपथी, राधास्वामी आदि ने अपने लिए की, और प्रतिलिपिकारो ने जो समझ में न आया उसे सरल तो किया ही, एव प्रतिलिपिकार—सुलभ छोड़ने या और को और समझ लेने की गलती तो की ही, इसके अतिरिक्त उनको अपने मत से जहाँ भी विरोध दिखाई पड़ा, उन्होने उसे यथासाध्य अपने

कूल-सा बना दिया था। यो बहुत से लोगो का विश्वास है कि कबीर के निधन (स० १५७५) के ५४ वर्ष पूर्व स० १५२१ में ही उनके प्रमुख शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नाम से उनकी उस समय तक की रचनाओं को सगृहीत कर दिया था। किन्तु भाषा—जो इस प्रकार की समस्याओं को सुलझाने का सर्वोत्तम साधन है—के अध्ययन के आधार पर यह बात असगत सिद्ध होती है। स० १६६१ में गुरु अर्जुनदेव ने गुरुग्रथ साहब में कबीर के २२८ पद और २४२ साखियों को सगृहीत किया। एक धर्म ग्रथ होने के कारण उसमें परिवर्तन प्राय नही के बराबर हुआ है। जब उसकी भाषा की तुलना बीजक से करते हैं, तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता, कि बीजक की भाषा उस से लगभग सौ-सवासौ वर्ष पुरानी नहीं है, जैसाकि होना चाहिए, बल्कि कदाचित् उसके कुछ बाद की है। चन्द्रबली पाडेय गुरु ग्रथ साहब को इतना प्राचीन मानने के पक्ष में नहीं है। उनके अनुसार गुरु ग्रथ साहब का सकलन गुरु गोविंद सिंह ने कराया था। इस प्रकार यह ८०-९० वर्ष बाद का है, और तब तो बीजक और इधर का है। यो, जो भी हो, ऐसा अनुमान लगता है कि दादू की मृत्यु स० १६६० में हुई, और उस समय तक सता में सकलन की परम्परा चल पड़ी थी तथा उसी के लगभग कबीर की रचनाओ को प्रथम बार लिपिबद्ध किया था। इसका आशय यह हुआ कि कबीर के निधन के लगभग ८०-८५ वर्ष बाद। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाना सरल है कि कबीर की रचनाएँ उस रूप में तो निश्चय ही हमारे सामने नहीं है, जिस रूप में उनके द्वारा उच्चरित हुई थी। सभावनाएँ कई प्रकार की है। लिपिकार ने अनेक लोगो की सहायता से सभवत सकलन किया होगा। बहुत से छदो के या उनके अशो के बारे में मतैक्य रहा होगा और बहुतो के बारे में मत-वैभिन्न्य, क्योकि ८०-८५ वर्ष पूर्व मरने वाले ने उनमें भी पूर्व सौ वर्षों में क्या किस रूप में कहा, उसी रूप में बता पाना असम्भव सा है। उस समय तक उनके छद मौखिक परम्परा में ही सुरक्षित थे, अत भाषा और विचार दोना ही दृष्टियो से उस समय तक काफी परि-

वर्तन का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस लिपिबद्ध होने में देर का सबसे बड़ा दुष्परिणाम तो यह हुआ कि कबीर की रचनाएँ उसी क्रम में हमारे सामने न आ सकी, जिस क्रम में वे कही गई थी। इसीलिए कबीर या उनकी विचारधारा का सहज विकास हमारे सामने नही आ पाता। दार्शनिक या वैचारिक दृष्टि से कबीर में बहुत से स्थानों पर जो आत्मविरोध मिलता है, वह इसी कारण है। जो क्रम आज उपलब्ध है, उनमें जैसे यदि पहला छद ४० वर्ष की आयु में का लिखा है तो दूसरा १०० का, तीसरा २५ का और चौथा ७० का। इस प्रकार के व्यतिक्रम कबीर में भरे पड़े हैं, और ऐसा होना ही वैसी स्थिति में स्वाभाविक भी है। उनकी कला और भाषा को समझने में भी यह गड़बड़ी बहुत बाधक है।

इतना ही नही हुआ। यह स्थिति तो उस समय थी, जब प्रथम बार वे लिपिबद्ध हुए। आगे उनकी रचनाओ की इस प्रकार की भाषा, भाव और क्रम के परिवर्तन की गड़बड़ी और भी बढ़ती गई। इसके भी कई कारण है। कबीर मध्ययुग से लेकर आज तक बहुत ही जनप्रिय कवि रहे हैं। उनकी रचनाएँ तानपूरे की शोभा भी बढ़ाती रही है, और हम जानते है कि इस क्षेत्र में स्वर या मात्रा की दृष्टि से तो परिवर्तन किये ही जाते है, गाने वाला कापी-किताब से नही गाता, अत भूलने पर अपनी ओर से जोड़ने की भी पूरी गुंजाइश रहती है। कबीर में पाठ-भेदो के अम्बार का एक कारण यह भी है। इसके अतिरिक्त कबीर की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे सतो के अनेक सप्रदाय और उपसप्रदाय विकसित हो गए जिसमे आपस में वैचारिक, धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से भी अतरो का विकास हुआ। कबीर सभी में पूज्य थे, अत उनकी रचनाओ की प्रतिलिपि सभी सप्रदाय वालो जैसे निरजनी, दादूपथी, कबीरपथी, राधास्वामी आदि ने अपने लिए की, और प्रतिलिपिकारो ने जो समझ में न आया उसे सरल तो किया ही, एव प्रतिलिपिकार—सुलभ छोड़ने या और को और समझ लेने की गलती तो की ही, इसके अतिरिक्त उनको अपने मत से जहाँ भी विरोध दिखाई पड़ा, उन्होने उसे यथासाध्य अपने

अनुकूल करने का भी प्रयास किया। इस प्रकार लगभग १६६० वि० से लेकर इस सदी के कुछ दशक पूर्व तक कबीर की रचनाओं में घटाने बढ़ाने और परिवर्तन करने की अनत घटनाएँ होती रही हैं। कुछ ही नहीं, उनके पर्याप्त ऐसे भी भक्त हुए हैं, जिन्होंने उनके महात्म्य को बढ़ाने के लिए उनके नाम से स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिख डाले हैं और ऐसे ग्रंथों की सख्या पचास से ऊपर है, जिनमें कहीं तो उनकी गणेश से बातचीत करायी गई है, और कहीं शकराचार्य से, तो कहीं गोरखनाथ से।

इस प्रकार कबीर के नाम से आज उपलब्ध साहित्य सख्या और परिमाण में बहुत अधिक है। विल्सन ने इस सबध में सबसे पहले प्रकाश डाला और कबीर के द्वारा रचे गए ८ ग्रंथ बतलाए। वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'कबीर सागर में उनके ४० ग्रंथ दिये गए हैं। मिश्र-बधुओं ने यह सख्या ७५ कर दी और वेस्टकट ने ८२। इन पंक्तियों के लेखक ने देश विदेश की विभिन्न खोज रिपोर्टों तथा हस्तलिखित पोथियों के विवरणों को देखने के आधार पर यह अनुमान लगाया है, कि उनके नाम से उपलब्ध पुस्तकों की सख्या इस समय पौने दो सौ से कम नहीं है। विभिन्न प्राचीन पांडुलिपि-आगारों की पूरी छान बीन होने पर उनकी सख्या दो सौ या उससे ऊपर तक पहुँच सकती है। इसकी अधिकाश सामग्री कितनी अप्रामाणिक है यह देखने के लिए कबीर के नाम से उपलब्ध कुछ रचनाओं के नाम देखे जा सकते हैं मुहम्मद बोध, कबीर सकराचार्य गोष्ठी, कबीर निरजन गोष्ठी, कबीर दवदूत गोष्ठी, कबीर दत्तात्रेय गोष्ठी, कबीर गनेश गोष्ठी आरती, कमवाड की रमैनी तथा साह बलख प्रश्नोत्तरी आदि।

इस प्रकार के ग्रंथों की अप्रामाणिकता के सबध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

आज कबीर के नाम से जो सामग्री अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक समझी जाती है वह कई परम्पराओं में प्राप्त है। उसे मोटे रूप से निम्न वर्गों में रखा जा सकता है

(क) राजस्थानी परम्परा—इस परम्परा में प्राप्त कबीर की रचनाओं का संबंध प्रमुखतः राजस्थान से है। इस परम्परा में कई शाखाएँ आती हैं, जिनमें दादूपंथी और निरंजनी उल्लेख्य हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' का संबंध इसी परम्परा से है। इस परम्परा की प्राचीनतम प्रति पर लिपिकाल सं० १५६१ दिया हुआ है, किन्तु स्पष्ट ही उसकी पुष्पिका का वह अंश बाद का है, और इस प्रकार उसे इतनी प्राचीन नहीं माना जा सकता।

(ख) गुरु ग्रंथ साहब की परम्परा—इस परम्परा में कबीर के गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत छंद आते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'संत-कबीर' में इन्हें प्रकाशित किया है।

(ग) बीजक की परंपरा—यह परंपरा कबीर पंथियों में बहुत मान्य रही है। इसकी किसी प्राचीन प्रति के बारे में पता नहीं। इसी के संबंध में प्रसिद्ध है कि भग्गूदास इसे ले भागे थे। आज अनेक लोगों द्वारा प्रस्तुत बीजक उपलब्ध हैं। जिनमें विश्वनाथ सिंह, पूरनदास, अहमदशाह विचारदास आदि के प्रमुख हैं। बीजक की परंपरा का संबंध हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग से है। इस पर मैथिल का प्रभाव भी है।

वस्तुतः प्रमुख ये ही तीन परंपराएँ हैं और हिन्दी साहित्य में कबीर का अधिकांश अध्ययन इन्हीं तीनों के आधार पर किया गया है। कुछ अन्य अप्रमुख परंपराएँ इस प्रकार हैं

(क) स्फुट पदों की परम्परा—वेलवडियर प्रेस तथा कबीरचौरा की शब्दावलियाँ इसका प्रतिनिधित्व करती हैं।

(ख) साखियों की परम्परा—इस परम्परा में लगभग तीन हजार साखियाँ मिलती हैं।

(ग) पुराने संकलनों की परम्परा—यह परम्परा पुराने संग्रह-ग्रंथों में मिलती है। रज्जब जी की सर्वंगी' तथा जगन्नाथदास का 'गुणगंजनामा' इसमें उल्लेख्य हैं।

(घ) मौखिक परम्परा—यह परम्परा आज भी अपना स्वरूप बढ़ाती

हुई पूरे उत्तरी भारत में सगीतज्ञो साधु-सतो एव सामाय लोगो में फैली हुई है। सबसे अधिक परिवतन और मिश्रण इसी परम्परा में हुआ और हो रहा है।

भौगोलिक आधार पर कबीर के पाठ की प्रमुखत चार परम्पराएँ मानी जा सकती है

(क) पजाबी—गुरुग्रथ साहब का पाठ इसी के अतगत आता है।

(ख) राजस्थानी—कबीर ग्रथावली तथा कुछ सग्रह ग्रथो के पाठ इसी में आत है।

मध्यदेशी—मध्यदश में प्राप्त लिखित तथा मौखिक पाठ इसमें आत है।

(ग) पूर्वी—पूर्वी प्रदश में प्राप्त लिखित जैसे बीजक तथा मौखिक परम्परा इसमे आती है।

कहना न होगा कि मौखिक परम्परा अपक्षाकत अधिक पुरानी है साथ ही समय समय पर मौखिक और लिखित परम्पराएँ एक दूसरे को प्रभावित भी करती रही है। जैसा कि सकेत किया जा चुका है कबीर के पाठ की लिखित परम्परा का आरम्भ १६६० के आसपास हुआ होगा। वह पहली प्रति कहाँ लिखी गई और किस लिपि में लिखी गई इस सबध में विवाद हो सकता है। कबीर के पाठ पर वैज्ञानिक काय करन वाल मित्रवर डा पारसनाथ तिवारी का कहना है कि कबीर की रचनाओ का मूल प्रति उदू लिपि में थी। सचमुच विभिन्न परम्पराओ में 'चित्र' से 'चलत' जैसी पाठ-विकृतियाँ मिलती है जिनकी सभावना केवल उदू लिपि में ही हो सकती है नागरी या मध्यप्रदश में प्रचलित अय लिपियो में नही। जहा तक यह प्रश्न है कि पहली प्रति कहाँ या कहाँ के लोगो द्वारा लिपिबद्ध हुई थी भाषा के आधार पर एसा अनुमान लगता है कि वह स्थान पूर्वी ब्रज प्रदश था। बाद में उस पर राजस्थानी पजाबी हरियानी अवधी तथा कुछ भोजपुरी का भी प्रभाव पडा। आग भाषा के प्रकरण में इस पर कुछ विस्तार से कहा जा सकेगा।

ऊपर जिन तीन प्रमुख परम्पराओ और उनके प्रतिनिधि ग्रथो—

कबीर ग्रंथावली, संतकबीर, बीजक—का उल्लेख किया गया है, अपने अपने पक्षधरो द्वारा प्रामाणिक माने जाते हैं। यों कुछ अंशों तक उनका आपस में प्रभाव भी पड़ा है। ऐसा कहना अवैज्ञानिक न होगा कि इन तीनो परम्पराओ में जो अश एक हैं या बहुत मिलते-जुलते हैं, उन्हें तो सरलता से कबीर की रचना या कम से कम उस मूल प्रति का अंश माना जा सकता है। इन तीनो पाठो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कबीर ग्रथावली और सत कबीर, 'बीजक' की अपेक्षा सभवत: मूल के अधिक निकट है।

कबीर ने सब कुछ मिला कर कितना रचा यह कहना कठिन है। पथ वालो के अनुसार उन्होने छ. लाख ९६ हजार छन्दो की रचना की—

सहस छानबे औ छव लाखा।
जुग परमान रमैनी भाखा।

किन्तु आज जो रचनाएँ विद्वानो द्वारा कबीर की प्राय: समझी जाती हैं वे लगभग बारहसौ साखियाँ, लगभग आठसौ पद तथा लगभग नब्बे रमैनियाँ हैं। पथ वाले ज्ञान-चौतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसत, चांचर बेली, बिरहुली, और हिंडोला—जो बीजक में सगृहीत मिलते हैं—को भी कबीर की ही मानते हैं। यहाँ विस्तार से छानबीन के लिए अवकाश तो नही है, किंतु ऐसे अनुमान् के लिए आधार है, कि इनमें लगभग हजार-एक साखियाँ, लगभग ढाई सौ पद और बीस-बाइस रमैनियाँ ही सभवत उनकी लिखी है।[1] इससे अधिक मानने में पाठविज्ञान की दृष्टि

---

१. डॉ पारसनाथ तिवारी ने कबीर के पाठ पर काम किया है और उनके अध्ययन के परिणामस्वरूप लगभग ७४४ साखियाँ, २०० पद और २१ रमैनियाँ कबीर की ठहरती हैं। वस्तुत. यह कहना बहुत ठीक नही है, कि कबीर ने इतना ही लिखा, अपितु यह कहना ही अधिक उचित है कि कबीर के प्रथम संग्रह में, जिससे, बाद की लिखित पाठ-परम्पराएँ चली, लगभग इतने ही छन्द थे, क्योंकि पाठ-विज्ञान

से तो व्यवधान आता ही है, भाषा और विचार की दृष्टि से भी, सबको एक व्यक्ति की रचना मानना असभव हो जाता है, साथ ही ऐसी भी बहुत सी रचनाएँ उसमें आ जाती हैं, जिन्हें सूर, तुलसी, दादू या पीपा आदि अनेक अन्य कवियो का माना जाता है।

का काम यही है। ऊपर हम देख चुके हैं कि उनकी मृत्यु के काफी दिन बाद वह प्रथम सग्रह किया गया, अत यह भी असभव नही कि उस प्रथम सग्रह में कबीर की सारी रचनाएँ सगृहीत न हो सकी हो, और जो सगृहीत हुई, उनके अतिरिक्त भी कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ रही हो, जो मौखिक परम्परा में चलकर बाद में लिखित परम्परा में आई हो या कुछ तो अब तक भी केवल मौखिक परपरा में ही सुरक्षित हो। किन्तु इन सभावनाओ की ठीक से छानबीन करना आज सभव नही। यो तो डॉ तिवारी का काम अपनी जगह पर प्रामाणिक है ही, किन्तु मेरा अपना विचार यह है कि, कबीर जैसे लोगो की रचनाओ को, जो बहुत दिनो तक मौखिक परम्परा में रही हैं, समवेत रूप में पाने में पाठ-विज्ञान हमारी बहुत सहायता नही कर सकता—किन्तु साथ ही, कोई और पद्धति भी इस दिशा में सहायक नही है। किन्तु यदि (१) उन सारे छन्दो को जो निश्चित रूप से दूसरे के हैं या जो (२) अभिव्यक्ति या विचारधारा की दृष्टि से उनके नही लगते, इन दोनो को अलग करके शेष को उनकी रचना मान लिया जाए तो बहुत बुरा न होगा।

५

प्रभाव

व्यक्ति, परम्परा व्यक्तित्व की विशिष्टता तथा युग और प्रभाव की क्रिया प्रतिक्रिया का ही 'सम टोटल' या समाहार होता है। हर साहित्यकार की साहित्यिक पृष्ठभूमि में ये ही बातें विवेच्य होती हैं। कबीर भी इसके अपवाद नहीं है। यहाँ उन पर पडे प्रभावो को सक्षेप में देखा जा रहा है। सारग्राही कबीर ने प्रत्यक्षत या प्रतिक्रिया-स्वरूप युग के अतिरिक्त अनेक परम्पराओ से वैचारिक, भावविषयक तथा शैल्पिक सपदा के मूलतत्व ग्रहण किए थ, जिनमें उपनिषद्, बौद्ध सिद्ध, नाथ, वैष्णव, सूफी, निरजन, इस्लाम, जैन तात्रिक आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन में प्रमुख प्रथम छ ही हैं। निरजन सप्रदाय से सभवत उन्होंने केवल 'निरजन शब्द ही ग्रहण किया है, जिसका 'सत्य,' या 'ब्रह्म, आदि अर्था में प्रयोग किया है। यो इस शब्द के नाथो के माध्यम से आने की सभावना भी असभव नही कही जा सकती। इस्लाम से एक ईश्वर तथा विश्वास की बात को वल मिलने की सभावना हो सकती है। इस्लाम परिवार में पलने के कारण कुछ अन्य भी छोटी-छोटी बातो में इस्लामी भी प्रभाव हो सकता है। जैन से अहिंसा आदि आचारिक बातो के क्षेत्र में प्रभाव सभव है। तात्रिको का प्रभाव नहीं पडा, अपितु इनकी प्रतिक्रिया हुई। शाक्त, तात्रिको के ही विकृत विकास थे, जिनकी कबीर ने बहुत निंदा की है। तात्रिको की जो कुछ भी साधना विषयक अच्छी बातें कबीर में मिलती हैं वे कदाचित् नाथों की देन हैं।

उपनिषद

उपनिषद वैदिक साहित्य के सार हैं। ये दार्शनिक विवेचना की आदि-निधि है। वेदात या शाकर चिंतन के वे ही आधार हैं। भारत के सारे मत मतातर किसी न किसी रूप से उनसे प्रभावित होते रहे हैं। कबीर पढे लिखे तो नही थे किन्तु, अप्रत्यक्ष रूप में उपनिषदो का प्रभाव उन पर अवश्य पडा था। ब्रह्म के स्वरूप और ब्रह्म-आत्मा की एकता के बारे में उन्होने जो कुछ कहा है, वह प्राय उसी रूप में उपनिषदो, में आया है। बृहदारण्यक उपनिषद कहता है कि 'आत्मा ही ब्रह्म है, (अयमात्मा ब्रह्म), 'मैं ही ब्रह्म हूँ, (अह ब्रह्मास्मि)। इसी प्रकार 'यहाँ जो कुछ भी है ब्रह्म है' (सर्वं खल्विद ब्रह्म)। कबीर कहते हैं—

(१) आप पिछानै आपै आप

(२) खालिक खलक खलिक में खालक सब घट रहा समाई

(३) हम सब माँहि सकल हम माहीं।

कबीर ने ब्रह्म के प्रकाश का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

रवि ससि बिना उजास।

मुडक उपनिषद में आता है—

तस्य भासा सर्वमिद विभाति

(उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होता है)

कबीर उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। उपनिषदो में भी इस बात को नेतिनेति आदि कई रूपो में कहा गया है

कबीर का ब्रह्म में लीन होने के रूप में मुक्ति का स्वरूप पूर्णत उपनिषदो का है।

मुडक उपनिषद में आया है—

परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे

(परम अमृत होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं)

या

स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(जो कोई भी उसे जान लेता है, वही हो जाता है)

कबीर मुक्ति के लिए ज्ञान पर बल देते हैं।

तारन तिरन तब लग कहिए।
जब लग तत्त न जाना।

उपनिषदों में भी 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' कहा गया है। इस प्रकार उनका अद्वैतवादी दर्शन उपनिषद, वेदांत और शंकर पर बहुत कुछ खड़ा है। भक्ति, योग आदि की भी कुछ बातें कबीर में उपनिषदों से मिलती-जुलती हैं।

इनके अतिरिक्त जन्मान्तरवाद तथा अवतार का भी मूल उपनिषद् या वैदिक साहित्य में ही है। कबीर में पाई जाने वाली ये दोनों बातें भी मूलतः वहीं से आई मानी जा सकती हैं।

बौद्ध

(कबीर के समय में भारत में बुद्ध धर्म का प्रचार नहीं के बराबर था। इसीलिए कबीर पर उसके प्रत्यक्ष प्रभाव की संभावना नहीं है।) किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में वे अवश्य प्रभावित हुए हैं, यद्यपि बौद्ध धर्म के लिए उनके हृदय में आदर भाव नहीं था। कबीर ग्रंथावली में शाक्त और चार्वाक के साथ उन्होंने बौद्धों का भी नाम लिया है—

जैन बौद्ध अरु साकत सैना।
चारवाक चतुरंग बिहूना।

संभवतः बौद्ध धर्म का विरोध उन्होंने उसके अनीश्वरवादी होने के कारण ही किया।

बौद्ध धर्म के महायान और हीनयान दो रूप हो गए थे। महायान से छठी-सातवीं सदी में वज्रयान सहजयान, और निरंजन-पंथ आदि सम्प्रदाय विकसित हुए। सिद्धों का सम्बन्ध वज्रयान और सहजयान से ही था। सिद्धों का ही विकसित, परिष्कृत और शैवों से प्रभावित रूप नाथ सम्प्रदाय था। नाथों में प्रमुख गोरखनाथ प्रसिद्ध तिब्बती बौद्ध-तान्त्रिक तारानाथ के अनुसार पहले बौद्ध थे। इस प्रकार नाथों से बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष

सबध था, और कबीर नाथो के बहुत ऋणी थे, अतएव कबीर पर बौ प्रभाव की पूरी सभावना है। नीचे कुछ सभावित प्रभावो को सक्षेप लिया जा रहा है।

द्रविड सस्कृति साधना प्रधान थी और आर्य सस्कृति भोग प्रधान बुद्ध के पूर्व ये दोनो अतिवादी दृष्टिकोण चलते रहे। ऐसा एक नहीं अपितु अनेक क्षेत्रो में होता रहा। सम्मा सम्बुद्ध भगवान बुद्ध ने आत्मा नुभव के आधार पर सबसे पहले इस बात को सामने रखा कि मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है। 'सयुक्त निकाय' में एक प्रश्न आता है कि दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग कौन-सा है ? उत्तर है—'यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य, अनर्थकर जीवन है" , इन बातो से बचकर तथागत ने मज्झिमा पटिपदा (मध्यमा प्रतिपदा मध्यम मार्ग) का ज्ञान प्राप्त किया है, जो आँख खोल देने वाला है निर्वाण के लिए होता है।' बौद्धो में यह मध्यम माग दर्शन, धर्म, आचार सभी दृष्टियो से है। आत्मा-परमात्मा के बारे में भी उन्होने न तो 'हाँ' कहा और न 'नही, क्योकि एक 'शाश्वतवाद' होता और दूसरा 'उच्छदवाद' और वे दोनो ही में विश्वास नही रखते थे। सिद्धो में भी मध्य का उल्लेख है। यही बात नाथो में भी है। गोरख कहते है

धाये न धाइबा भूये न मरिबा

(कबीर न मध्यम मार्ग को बडे व्यापक रूप में लिया और जीवन के हर क्षेत्र में उसे लागू किया) कबीर ग्रथावली में 'मधिकौ अग' शीर्षक स एक अलग अग ही है, जिस में ग्यारह साखियाँ है। पहली साखी में वे कहते है—

कबीर मधि अग ज को रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुहुँ दुहुँ अग सू लाग करि, डूबत है ससार।

हिंदू-मुसल्मान तथा सुख-दुःख, सभी अतिवाद है। बुद्ध बीच का पथ पसद करते है। उनका समन्वयवाद भी तत्त्वत इसी पर आधारित है, जहाँ ज्ञान, प्रेम, भक्ति, योग, कर्म का सुन्दर समन्वय है। सुख-दुःख के बारे

में वे कहते हैं—

दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख कों झूरि।
सदा अनन्दी रामके, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥

इस अंग से अलग भी कबीर ने कर्म और भक्ति में मध्यम मार्ग का संकेत किया है—

कबीर जे धंधै तो धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मं ध्याया नहीं।

अपने जीवन में भी कबीर ने इसे उतारा और आजीवन वे जुलाहे और भक्त रहे।

कबीर आगम निगम या वेद शास्त्र के विरोधी थे। उनका 'वेद-कतेब' 'पढने' 'या पुस्तकीय ज्ञान' का विरोध उसी का परिणाम है। सच पूछा जाए तो इस प्रकार की बात सबसे पहले बौद्ध धर्म में उठायी गई थी। और यह दृष्टिकोण महायान और सिद्धा से होते नाथो में आया। गोरख कहते हैं—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया,
पंडित के हाथि रह गई पोथी।

वही से कबीर ने इसे ग्रहण किया। यो कबीर इसे ग्रहण न करते किन्तु उन्होंने देखा कि कथाकथित पढ लिखे वस्तुत अज्ञानी हैं, अत उन्हें ऐसा कहना पडा—

चारि वेद चहुँ मत का विचार।
इहि भ्रम भूलि परयो ससार।

वस्तुत ऐसा कहने से उनका आशय यह नही था कि ससार की सारी ज्ञान की पुस्तकें व्यर्थ है, क्योकि उन्होंने स्पष्ट कहा है—

बेद कितेब कहो क्यों झूठा, झूठा जो न विचारे।

कबीर में 'शून्य' का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। मूलत 'शून्य' शब्द वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'सत्ता' है। 'विष्णुसहस्रनाम' में यह भगवान का एक नाम है। किन्तु इस शब्द को

विशेष महत्व बौद्धो न दिया । नागार्जुन का शून्यवाद प्रसिद्ध है । वह शून्य अनिवचनीय सत्ता है । वह शून्य अशून्य शून्याशून्य सब स परे है इस रूप में यह एक सूक्ष्म विचार (Concept) मात्र है। कुछ विद्वानो इसे नकारात्मक कहा है किन्तु वस्तुत यह बात नही है । शून्य शब्द वह से सिद्धो में आया और महासुख का समानार्थी हो गया । नाथ पथ में इ के अथ भी कई अथ विकसित हुए । कबीरन वही से इसे लिया । उनक शून्य प्राय गोरख के समान है और दोना तत्वत नागार्जुन से मिलते जुलते हैं । कबीर और नागार्जुन का प्रमुख अतर यह है कि कबीर में व सूक्ष्म विचार मात्र न होकर भक्ति से समन्वित हो गया है और उसके साथ हृदय पक्ष भी सम्बद्ध हो गया है । वह एक प्रकार से भाव — परम तत्व है । नागार्जुन जैसी दार्शनिक सूक्ष्मता उसमें कम है । य कबीर में शून्य के और भी अथ हैं जो नाथो सिद्धो में भी हैं । इस प्रकार शून्य का भावरूप परमतत्त्व वाला रूप बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के बहुत निकट है । कबीर जब निर्गुन सगुन से परे तहा हमारो राम की बात करते हैं तो वे नागार्जुन के शून्य की तरह ही शून्य अशून्य शून्याशून्य आदि से परे की बात कहते हैं । इसी प्रकार कबीरन एक स्थान पर ब्रह्म के न एक न अनक होन की बात कही है ।

(कबीर म सवजाति समभाव है । जब एक बिन्दु से सष्टि रचा गई है तो कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र ? इस दिशा भ बद्ध न भ (मज्झिम निकाय में)[१] आवाज उठाई थी । बुद्ध धम की महायान और हीनयान दोनो शाखाओ में जाति विरोध है । यो गीता म भी इस प्रकार के समत्व की बात है किन्त डा० हरदायल (बोधिसत्व डाक्टिन इन सस्कृत लिटरेचर) आदि विद्वाना के अनुसार गीता बाद का है और महायान से पर्याप्त प्रभावित है । सिद्धो नाथो में भी यह है । कबीर

---

१ यह आस्सलायण सुत्त में आया है । आश्वलायन ब्राह्मण थ । उन्हें बुद्ध न वनस्पतियो का उदाहरण देकर जाति का एक होना समझाया।

कहते हैं ।

जाति न पूछो साध की पूछ लीजिए ज्ञान ।

(एक बौद्ध ग्रंथ में आया है—

जति मा पुच्छि चरणं च पुच्छि ।)

दोनो में कितना सामीप्य है, कहने की आवश्यकता नही। यों इस क्षेत्र में बुद्ध का स्वर उतना तीव्र नहीं है, जितना कि कबीर का, किन्तु यह तो स्पष्ट ही युगीन प्रतिक्रिया के कारण है ।

उपर्युक्त प्रमुख बातों के अतिरिक्त बुद्धिवादिता, अनुभव और सत्य के परिचय पर बल, मन के दो रूप मानना (इस मन को विसमल करो), सुरति (बुद्ध ने 'स्मृति' का प्राय इस अर्थ में प्रयोग किया है) तथा अग[1] या सारियो के शीर्षकों में प्रयोग आदि छोटी-मोटी अन्य बातें भी हैं, जो बौद्धधर्म के किसी न किसी रूप में प्रभाव के कारण मानी जा सकती हैं।

सिद्ध

कबीर के हृदय में सिद्धों के लिए सम्मान न था। वे एक स्थान पर कहते हैं—

पट दरसन संसै पड़या अरु चौरासी सिद्ध ।

(वज्रयानी सिद्धो के तामसिक आचार के कारण कबीर इनसे विशेष रुष्ट थे।) ऊपर हम देख चुके हैं कि बौद्ध प्रभाव सिद्धो से होकर ही कबीर तक पहुँचे थे, अत उस रूप में तो सिद्धो का ऋण कबीर पर है ही, इसके अतिरिक्त कुछ बातें ऐसी भी हैं जो सिद्धो से ही नाथो में और फिर नाथो से कबीर में आईं। इनमें सबसे प्रमुख है व्यग्य, दृढता और ओजस्विता के साथ खडन-मडन की प्रवृत्ति। यह सिद्धो की एक प्रमुख विशेषता थी। नाथो में होते यह कबीर में आई। दूसरी चीज है उलट-

---

१. पाचवी सदी ई० पू में त्रिपिटक में 'अग' का कुछ इसी प्रकार के अर्थ में प्रयोग मिलता है। बुद्ध घोष के विसुद्धिमग्ग में रुक्खमूलिक अग, स्मसानिद अग आदि १३ अग दिये गये है।

बांसियां। इनकी फुटकल परम्परा यो तो प्राचीन है, किन्तु सर्व प्रथ सिद्धो ने ही सध्या या सध्या - भाषा के रूप में इनको व्यापक रूप अपनाया। कबीर में प्रतीकात्मक और पारिभाषिक शब्दो का प्रयो बहुत मिलता है। उनकी भाषा पर विचार करते समय इन पर प्रका डाला गया है। इनमें भी बहुत से प्रतीक सिद्धो के ही है। कबीर हठयो में भी सिद्धो के ऋणी है। यो तो हठयोग की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है किन्तु उसका जो रूप कबीर में है वह निश्चय सिद्धा के स्पर्श स युक्त है

नाथ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बौद्ध और सिद्ध प्रभाव कबीर प प्राय नाथा के माध्यम से आए थे, किन्तु इसके अतिरिक्त भी नाथो का ऋण है। इस दृष्टि से प्रथम उल्लेख बाह्य और आतरिक आचार का किया जा सकता है। सिद्धो की प्रतिक्रिया-स्वरूप नाथो में इद्रिय निग्रह तथा आचार का आगमन हुआ था। नाथों से थोडे और विकसित रूप में ये कबीर में आ गए। भाषा के क्षत्र में भी कबीर नाथो विशेषत गोरख के बहुत ऋणी है। केवल उल्टवासियाँ का प्रतीकात्मक या हठयोग की परिभाषिक शब्दवाली ही नही अपितु गोरख की ता न जान कितनी पक्तियाँ ज्यो की त्यो या थोडे ही अतर से कबीर में मिलती है। उदाहरणार्थ—

यह मन सकती यह मन सीव ।
यह मन पाँच तत्वों का जीव ।

ये गोरख और कबीर में समान रूप स पाई जाती है। कबीर की हठयोग से समाचित साधना तथा गुरु के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा भी अनात नाथपथिया की देन है।

वैष्णव

कबीर के हृदय में वैष्णवा के लिए बडा आदर रहा है। वे कहते है—

बैस्नो की छपरी भली ना सापत बाड़ गाँव ।

साषत ब्रौभण मति मिलै, वैसनों मिलै चँडाल।
अँक माल दे भेटिये, मानौ मिले गौपाल।

इससे यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि वैष्णव मत उन्हें बहुत पसन्द था, और उससे उन्हें बहुत कुछ मिला। इस दृष्टि से प्रमुख उल्लेख्य तत्त्व है भक्ति। उनकी भक्ति तत्त्वत वैष्णव भक्ति ही है। वे साफ कहते भी हैं—

भगति नारदी मगन कबीरा
या
भगति नारदी हृदय न आई काछिकूछ तन दीना।

अन्तर है तो केवल यह कि, उसका पूजा कर्मकाड एव अवतारवाले पक्ष को उन्होने स्वीकार नही किया। इसके अतिरिक्त नामस्मरण अहिंसा, सदाचार, प्रपत्ति आदि भी कबीर ने वैष्णवो से ही ली।

भगवान के विविध नाम भी कबीर को वैष्णवो से मिले यद्यपि अवतारी रूप में नही—

दसरथ सुत तिहूँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।

इनके द्वारा प्रयुक्त कुछ नाम हैं - सारगपानि, मुरारी, गोविन्द, मधुसूदन तथा हरी।

इस प्रसग में 'नामस्मरण' भी उल्लेख्य है। यह भी कबीर को प्रमुखत वैष्णवो से ही मिला। यद्यपि नाथो में भी यह थोड़ा-बहुत था, किन्तु उनके यहाँ इस पर उतना बल नही था, जितना वैष्णवो में। वैष्णवो ने तो इसी लिए 'विष्णु सहस्रनाम' की रचना कर डाली।

रामानद

ये भी वैष्णव थे, किन्तु गुरु होने के कारण, कबीर पर इनके विशेष प्रभाव की सभावना है, अत इनका प्रभाव अलग देखा जा सकता है। इन्होंने अपने साधना-पथ को आगम-पथ कहा है। आगम-पथ के दो रूप रामानद ने माने हैं—तन का योग और मन

का योग । दोनो को मिलाकर ये 'अध्यात्मयोग' कहते हैं। तनके योग में ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, पाँच मुद्रा (चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी, उन्मनी) तथा हठयोग है। मन योग में आडंबर विरोध, पुस्तकीय ज्ञान की व्यर्थता और हृदय-शुद्धि की प्रमुखता, सुरति, निरति, तथा मन की स्थिरता आदि है। रहनी पर भी रामानंद बल देते हैं। इसमें वे दया, शील, संतोष, अगर्व, अलोभ त्याग, हरि-स्मरण तथा भक्ति आदि को मानते हैं। गुरु को उन्होने बहुत महत्त्व दिया है। ये सभी बातें कबीर में भी हैं, अतः इन्हें रामानंद का प्रभाव माना जा सकता है। इनमें से कुछ बातें अन्य स्रोतो से भी कबीर में आई हैं। यह स्मरणीय है कि प्रत्यक्ष संपर्क होने पर कोई भी प्रभाव कई स्रोतों से भी संभव है।

सूफी

सूफी मत के इतिहास से स्पष्ट है कि वह भारतीय बौद्ध धर्म और वेदान्त से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (यूनान से) दोनों रूपो में प्रभावित है। कबीर भी दोनो से प्रभावित हैं। इसीलिए ऐसी बहुत-सी दार्शनिक अद्वैत वाद माया ज्ञान मुक्ति का स्वरूप तथा सामान्य बातें हैं जो कबीर और सूफियो में एक जैसी हैं। ये बातें कदाचित कबीर यको सूफी माध्यम से न मिलकर यहीं से मिलीं। या कुछ अंशो तक इन क्षेत्रो में भी यदि सूफियो का प्रभाव पडा हो तो कोई आश्चर्य नही। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ बातें ऐसी भी हैं जो निश्चय ही कबीर ने सूफियो से ली। उसमें पहली चीज है परमात्मा के प्रति प्रेम की तीव्रता। भारतीय परपरा में यदि परमात्मा के प्रति प्रम था भी तो उसका न तो यह रूप था और न उसमें यह तीव्रता ही थी। कबीर प्रम पियाला' और 'प्रम भगति' का भी उल्लेख करते हैं। यह भी सूफी प्रभाव है। इस 'पियाला' या 'खुमार' (हरि रस पीया जानिए जे कबहूँ न जाय खुमार) का संबंध शराब से है जो फारसी साहित्य की विशेषता रही है। कबीर का 'राम रसायन' भी वहीं से संबद्ध है।

प्रम से ही संबद्ध विरह' है। 'सूफियों में 'विरह' बडा महत्त्वपूर्ण है।

अनेक सूफी कवियों और चिंतकों ने उसे प्रेम से भी बड़ा माना है। कबीर भी 'विरह' को बहुत महत्व देते हैं। इसके लिए 'विरह' और 'ग्यान विरह' शीर्षक से वे दो अलग अंग देते हैं। कबीर कहते हैं—

> बिरहा बुरहा जिनि कहौं बिरहा है सुलितान।
> जिस घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान।

आत्मा-परमात्मा को प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करने की पद्धति भी सूफियों की है, यद्यपि कबीर ने भारतीयता के प्रभाव से पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष कर लिया है।

'अहं' को समाप्त करना भारतीय परंपरा में भी नगण्य नहीं समझा गया है, किन्तु सूफ़ियों में उसका महत्व बहुत अधिक है। कबीर में भी उसे विशेष महत्व दिया गया है और वह संभवतः सूफियों का ही प्रभाव है।

इन प्रमुख तत्वों के अतिरिक्त कबीर ने सूफ़ियों से अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनेक शब्द भी लिए हैं, जो सूफी साधना या सूफी मत के विशेष शब्द हैं जैसे पीर, दीवाना, पियाला, खुमार, नूर, आदि।

इसी प्रकार मुसलमान परिवार में पलने के कारण कबीर पर कुछ प्रभाव मुसलमानों का भी संभव है। प्रतिक्रिया रूप में तो मुसलमानी प्रभाव स्पष्ट है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सारग्राही कबीर ने हर संभव ज्ञान या मत को समझने तथा उससे तत्व की बातें लेने का प्रयास किया और उनका अप्रतिम संदेश इन सारे तत्वों के समन्वय पर अवस्थित है।

६

दार्शनिक विचार

कबीर मूलत दार्शनिक नही थे । वे भक्त थे, ज्ञानी थे और चिंतक थे । मानव की मौलिक समता उनके मानवतावाद का आधार थी । इन सबके लिए उन्होने आधार लिया 'अद्वैतवाद' का। अडरहिल ने कबीर को विशिष्टाद्वैतवादी कहा है, फर्कुहर ने तो द्वैतवादी तक कहा है, किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे वे अद्वैतवादी थे। यद्यपि उनका अद्वैतवाद शंकर से थोडा भिन्न है, क्योकि उसमें ज्ञान को आवश्यक मानते हुए भी भक्ति पर पूरा विश्वास व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त वे बौद्धों के शून्यवाद आदि से भी प्रभावित है। सूफियो की तरह ब्रह्म से वे प्रेम भी कर सकते हैं।

ब्रह्म

कबीर ने बहुत अधिक बल ब्रह्म या भगवान के एक होने पर दिया है। इस रूप में उन्हें एकेश्वरवादी कहा जा सकता है, यद्यपि वे तत्त्वत इससे ऊपर हैं। इस पर बल देने का कारण यह है कि उस समय हिन्दू बहुदेववादी थे। कबीर कहते हैं—

एक जनम के कारणे कत पूजो देव सहैसो रे।
काहे न पूजो रामजी जाके भक्त महेसो रे।

दूसरी ओर मुसल्मान कहने को यद्यपि एकेश्वरवादी थे, किन्तु उनका आचरण इसके विपरीत था। वे यह नही सोच सकते थे कि उनका खुदा

ही हिन्दुओं का ईश्वर है। अपने खुदा को वे अपने लिए मानते थे। इस प्रकार उनके अनुसार हिन्दू का कोई और खुदा था जो उनके खुदा से निम्न था। कबीर ने उनको फटकारा—

दुइ जगदीस कहाँ ते आये कहु कोने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया।

इसी प्रकार हिन्दू भी अपने भगवान को मुसलमान के भगवान जैसा नहीं मानते थे, इसीलिए तो उन्हें मुसलमानों से घृणा थी। कबीर ने दोनों को इस मूर्खता के लिए फटकारते हुए कहा—

हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई।

और एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की—

एक एक जिन जाणिया तिनहीं सच पाया।

मुसलमान भी एकेश्वरवादी है किन्तु कबीर ने जब भगवान को एक कहा तो वे मुसलमानों की बात नहीं दोहरा रहे थे। मुसलमानों का खुदा जन्नत में सातवें आसमान पर बैठा है, किन्तु कबीर का विश्व के कण-कण में व्याप्त है। कबीर यह अंतर स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मुसलमान का एक खुदाई।
कबीर का स्वामी रह्या समाई।

इस प्रकार कबीर का एकेश्वर अद्वैत है। हर आत्मा वही है, विश्व की हर चीज वह है—

लोगा भरमि न भूलहु भाई।
खालिकु खलकु खलकु में खालिकु सब घट रह्या समाई।
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारे।
न कछु पोच माटी के भाण्डे न कुछ पोच कुँभारे।
सब माँहि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब किछु होई।

कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

हम सब माँहि सकल हम माहीं
हम थें और दूसरा नाहीं।

तीन लोक में हमरा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।
× × ×
हमहीं आप कबीर कहावा।
हम हीं अपना आप लखावा।

इस प्रकार कबीर का ब्रह्म सूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान है।

कबीर ने अपने ब्रह्म के लिए उन सभी नामों का प्रयोग किया है, जो उसकाल में प्रचलित थे। मुसलमानों का खुदा, अल्लाह, रहीम, हिन्दुओं का राम, गोविंद, मुरारी, सारंगपानी, हरि, निरंजन पंथ का निरंजन तथा अन्य सम्प्रदायों के 'तत' 'परम तत' 'साहिब' 'उनमन' 'ज्योति' 'सत्य' 'शून्य' आदि। वस्तुत एक सच्चे ज्ञानी को शब्दों से क्या झगड़ा हो सकता था। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया—

अपरंपार का नाउँ अनंत।

किन्तु उन्होंने नामों को ही स्वीकार किया, इन नामों की आत्मा उनकी अपनी थी। उनके राम अवतारी राम न थे—

ना दसरथ घर औतरि आवा
ना लंका कर राव सतावा
× × ×
दसरथ सुत तिहूँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।

इसका आशय यह हुआ कि अवतारवाद में उनका विश्वास नहीं था। किन्तु कबीर में कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनसे इसकी विरोधी गंध निकलती है। उदाहरणार्थ—

ओहि पुरुष देवाधिदेव। भगत हेतु नरसिंह भे।

लगता है कि इस प्रकार की पंक्तियाँ कबीर में क्षेपक हैं, या फिर तब की हैं जब वे अभी अपरिपक्व थे और तब उनका अवतारवाद में अपने गुरु रामानंद की तरह विश्वास था।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि कबीर के ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? पीछे कबीर पर प्रभाव का विचार करते समय कहा जा चुका है कि उपनिषदों में ब्रह्म के ज्योति स्वरूप होने का कहीं-कहीं उल्लेख है। सूफियों में भी खुदा के 'नूर' का उल्लेख है। उनकी सृष्टि रचना का एक सिद्धांत यह है कि खुदा ने अपने नूर (रोशनी) से नुरुल मुहम्मदिया (मुहम्मद का प्रकाश) पैदा किया है और उसी से चार तत्त्व (पृथ्वी, जल, वायु, आग) पैदा हुए। कबीर ने अपने 'परचा को अंग' में तथा अन्यत्र भी ब्रह्म को प्रकाश कहा है—

कबीर तेज अनंत का मानों ऊगी सूरज सेणि।

या

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान।

या

देख्या चंद बिहूंणां चाँदिणां

या

तेज पुंज पारस धणी नैनूं रहा समाय।

किन्तु अधिक स्थानों पर कबीर उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। उपनिषदों में भी ब्रह्म के बारे में यही कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद में 'स एष नेति नेति आत्मा' कहा गया है। कबीर भी प्रायः नकारार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा यही बात कहते हैं। वह देखा नहीं जा सकता।

अलख निरंजन न लखै कोई।
निरभय निराकार है सोई।

उसका स्वरूप जाना नहीं जा सकता—

जस तूं तस तोहि कोइ न जान।
लोग कहैं सब आनहिं आन।

वह अनन्य है—

यो है तैसा योही जानै।

योहि आहि, आहि नहि आनं।

सत्य यह है कि मनुष्य की भाषा उसका वर्णन करने में असमर्थ है। यह भाषा लोक के लिए है, किन्तु वह अलौकिक है। इसीलिए इस भाषा में वह कुछ भी नहीं है। उम्र में न तो बूढ़ा है, न बालक, न जवान—

ना हम बार बूढ़ हम नाहीं ना हमरे चिलकाई हो।

गणना तौल-माप में भी कुछ नहीं—

तोल न मोल माप किछु नाही गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुआ ताकी पारिख लखै न कोई।

तथा

भारी कहों त बहु, डरो हलका कहूँ तो झूठ।

पहले कबीर कह चुके हैं कि वह एक है—

हम तो एक एक करि जाना।

किन्तु वह एक व्यावहारिक बात थी। तात्विक बात यह है कि—

'गिनै ज्ञान ना होई।'

अर्थात् यह मानवीय गणना उसकी गणना के लिए अपर्याप्त है। इसीलिए वे साफ कहते हैं—

एक कहूं तो हैं नहीं दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर बिचारि।

अद्वैतवादियों ने भगवान को निर्गुण तथा निराकार कहा है। कबीर भी कहते हैं—

जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप-अरूप।
पहुप बास से पातरा ऐसा तत्व अनूप।

किन्तु यहाँ 'नाही रूप-अरूप' कहकर उन्होने ब्रह्म को साकार-निराकार से परे कह दिया है। कबीर उसे निर्गुण कहते हैं—

'भूख त्रिया गुण वाकै नाहीं,'

वह तीन गुणों से अलग है—

राजस तामस सातिग तीनूँ ये सब तेरी माया।

चौथे पद को जो जन चीन्हें तिनहि परम पद पाया ॥

किन्तु तत्वत

सरगुन की पूजा करो, निरगुन का धरो ध्यान।
सरगुन निरगुन ते परे तहाँ हमारो राम।

वह सगुण या भाव, और निर्गुण या अभाव से परे है। यही कबीर के ब्रह्म का परात्पर रूप है। उसे कबीर 'शून्य' भी कहते हैं, किन्तु वह उससे विवर्जित भी है—

'विवर्जित अस्थूल सुन्य।'

वह विवर्जित तो औरों स भी है—

बेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापरु पुन्य।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुन्य।
भेष विवर्जित भीख विवर्जित, बिवर्जित ड्यंभक रूप।
कहै कबीर तिहूँ लोक विवर्जित ऐसा तत्व अनूप।

वह दूर या समीप भी नही है—

नहि सो दूर नहि सो नियरा।

इस प्रकार कबीर का ब्रह्म पूर्णत अनिर्वचनीय है।

अविगत अगम अनूपम देख्या कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै गूँगे जानि मिठाई ॥

इस अनिर्वचनीयता के बावजूद भी कबीर ब्रह्म को सारे अच्छे गुणो की खान मानते हैं। व दयालु सवदेन-शील, करुणामय तथा प्रमी आदि हैं—

(क) तीन लोक को जाने पीर।
(ख) कबीर का स्वामी गरीब निवाज।

वह सब प्रकार से रक्षक, पालक, क्षमा करने वाला तथा सुख देन वाला है। आत्मा के लिए वह स्वामी है—

उस समरथ का दास हौं कदे न होइ अकाज।

वह पति है—

कबीर प्रीतडी तो तुम सं वहु गुणियाले कंत ।

या

राम मरे पीव म राम की बहुरिया ।

वह पिता है—

बाप राम सुनि बिनति मोरी ।

वह माता है—

हरि जननी म बालक तोरा ।

इस प्रकार कबीर का ब्रह्म तत्त्वत अनिर्वचनीय है व्यावहारिक दृष्टि स एक निगुण निराकार है और भक्त के लिए उसकी भावना के अनुकूल भगवान स्वामी पति पिता, माता आदि सब कुछ है। कबीर निराले थ उनका ब्रह्म भी निराला है—

'कहै कबीर वे राम निराले ।

आत्मा

कबीर आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते ह—

ना इहु मानुप ना इहु दव । ना इहु जती कहाव सेव ।
ना इहु जोगी ना अवधूता । ना इसु माइ, न काहू पूता ।
या मन्दर मह कौन बसाई । ताका अन्त न कोऊ पाई ।
ना इहु गिरही ना ओदासी । ना इहु राज न भीख मँगासी ।
ना इहु पिंड न रकतू राती । ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती ।
ना इहु तपा कहाव सेख । ना इहु जीव न मरता दख ।
इसु मरते को ज कोउ रोव । जो रोव सोई पति खोव ।
कहु कबीर इहु रामकी अंसु । जस कागद पर मिट न मसु ।

इस अर्थ में तुलसी ने—

ईश्वर अंश जीव अविनासी ।

का भाव है (यही अगानि भाव कबीर न वहाँ भी व्यक्त किया है जहाँ व ब्रह्म का समुद्र और आत्मा को बूँद कहत हैं—)

बूँद समानी समुद में सो कत हरी जाय ।

आचार्य शंकर ने अग्नि और स्फुलिंग द्वारा इसे व्यक्त किया है। जैसे चिनगारी आग का अंश है और साथ ही आग भी है, उसी प्रकार आत्मा ब्रह्म का अंश भी है और ब्रह्ममय भी है। कबीर की यह निश्चित मान्यता है कि आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है। इसी लिए वे कहीं कहीं परमात्मा के स्थान पर आत्मा (हम) का प्रयोग भी करते हैं। उदाहरणार्थ—

हम सब माँहि सकल हम माहीं।
हम थें और दूसरा नाहीं।
तीन लोक में हमरा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।
हमहीं आप कबीर कहावा।
हमहीं अपना आप लखावा।

दोनों के एक होने में उनको कितना विश्वास है—

हरि मरिहै तौ हम हूँ मरिहैं।
हरि न मरै हम काहे कूँ मरिहैं।

कबीर यह भी नहीं चाहते कि तात्त्विक दृष्टि से एक को महत्वपूर्ण और दूसरे को अमहत्वपूर्ण समझा जाए। वे 'लाँबि कौ अंग' में कहते हैं—

बूँद समानी समुँद में सो कत हेरी जाइ।

संभवतः तुरंत उनको ध्यान आता है बूँद के समाने का अर्थ यह हुआ कि समुद्र महत्वपूर्ण है और वे कह उठते हैं—

समुँद समाना बूँद में सो कत हेर्‌या जाय।

अर्थात परमात्मा भी आत्मा में खो गया और खोजा नहीं जा सकता। यदि ऐसी बात है तो आत्मा-परमात्मा को दो समझने वाले निश्चय ही मूढ़ हैं—

कहै कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति है मोही।

प्रश्न उठता है कि दोनों एक हैं तो अलग क्यों लगते हैं। कबीर का कहना है कि अज्ञान या माया के कारण—

जीवों को राजा कहे माया के आधीन।

तत्त्व न जानने के कारण ही आत्मा अपने को परमात्मा से अलग समझती है तथा अपने तर जाने की बात करती है—

तारन-तरन तब लग कहिए जब लग तत्त न जाना।

तत्त्व न जानने या माया के कारण ही बीच में व्यवधान आ गया है। वेदांतियों ने आकाश और घटाकाश की उपमा दी है। आकाश एक ही है। एक चारों ओर फैला है, दूसरा घड़े की चहार दीवारी में घिरा है। यह घड़ा ही अज्ञान या माया है। इसी के कारण आत्मा अपने को अलग समझ रही है। घड़े के टूटते ही—या माया (या अज्ञान) के समाप्त होते ही घटाकाश—जीव—अपने को आकाश—ब्रह्म—से अभिन्न समझने लगेगा। दोनों एक दीखेंगे। हैं तो एक अब भी, किन्तु अलग दीख रहे हैं। कबीर भी बिल्कुल यही उदाहरण लेते हैं। केवल 'आकाश' की जगह 'पानी' रख देते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कथौ गियानी।

यहाँ यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है कि इस अज्ञान या माया का आगमन कहाँ से हुआ? जब ये मिथ्या हैं तो कहाँ से आये? व्यवहारतः कहा जाता है कि हमारे बुरे कर्मों का फल है। किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि इस जन्म का अज्ञान या माया, जिसके कारण हम इस रूप में ब्रह्म से अलग हैं, पिछले जन्म के कुकर्मों का फल है और पिछले जन्म का उसके पिछले जन्मों का। तो इसी प्रकार पीछे जाते-जाते जो पहला जन्म था वह किस कुकर्म का फल था? सभी दार्शनिक, जिनका अद्वैतवाद में विश्वास है, यह मानते हैं कि मूलतः हम ब्रह्म थे, अर्थात् माया-अज्ञान से अलग थे। फिर जब हम इन से अलग थे और ब्रह्म थे, तो हम से बुरे कर्म या कर्म की संभावना हो नहीं सकती। यदि ऐसा नहीं हुआ तो हम उस प्रथम बार किस अपराध के लिए अलग किये गए? इस प्रश्न का ठीक उत्तर अभी तक किसी भी दार्शनिक ने नहीं

दिया। प्राय लोग यह कह देते है कि सृष्टि अनादि है, प्रारम्भ का प्रश्न ही नही उठता। यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि पहले पक्षी पैदा हुआ या पहले अडा। यदि ऐसी बात है तो तर्क तो यह कहता है कि फिर तो जैसे ब्रह्म स्वयम् वैसे ही माया या अज्ञान भी है, क्योकि ब्रह्म अज्ञान पैदा नही कर सकते, लेकिन वह संसार में है, जिसके कारण हम ब्रह्म से अलग है। कुछ लोगो ने इसका दूसरे रूप में उत्तर दिया है कि भगवान ने अपनी लीला या अपने खिलवाड के लिए यह सब किया है। यदि इसे भी मान लें तो बात बनती नही। न्यायी, दयालु, भगवान् ऐसा अन्यायी और क्रूर है कि केवल अपनी लीला के लिए हमें इस चक्कर में डाल दिया और हम परेशान है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई बडे पत्थर से किसी को दबादे और मुस्कुराते हुए कहे कि इस पत्थर से छूट कर मेरे पास आ जाओ। पत्थर से दबा आदमी—अपना कोई अपराध न होने पर भी—छटपटाए, लहूलुहान हो जाए और वह दबानेवाला अपने लिए लीला या खिलवाड समझकर प्रसन्न हो। क्या ऐसा ही है वह ब्रह्म ?

कबीर के आलोचको को कबीर में शायद इस प्रकार की कोई बात नहीं मिली है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि उनके दार्शनिक विचार पर प्रकाश डालते हुए किसी ने भी इस सबध में कबीर के विचार नही बतलाए हैं। इन पक्तियो के लेखक को लगता है कि कबीर ने भी एक स्थान पर कुछ उपर्युक्त प्रकार की ही बात कही है। 'विरह कौ अग' की दो साखियाँ हैं —

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ।
डारी खाडि पटकि करि, अतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ।

इनसे भाव यही निकलता है, कि ब्रह्म रूपी पिता ने आत्मा रूपी पुत्र को माया या सासारिक प्रलोभन रूपी मिठाई दे दी और स्वय छिप गया। जब तक पुत्र अज्ञान में लीन था, उन आकर्षणो का रस लेता रहा,

किन्तु जब उसे ज्ञान हुआ तो उसने, उन प्रलोभनों को छोड़ दिया और पुन अपने पिता के घर गया। यहाँ कबीर का भी कदाचित् यही संकेत है कि प्रारम्भ में ब्रह्म ने ही आत्मा को माया में डाला। इसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि उस बात तक की जा रही है, जब आत्मा-परमात्मा दोनों अलग थे, क्योंकि साथ दौड़ने का वर्णन है। किंतु वैसी स्थिति में माया द्वारा जीव को भुलवाने का प्रश्न नहीं उठता, क्यों कि यह तो स्वयं ग्रस्त है, इसीलिए अलग है, भूला हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रथम अर्थ ही ठीक है, और कबीर के अनुसार आत्मा को मायाग्रस्त कर अलग करने का कार्य ब्रह्म का ही किया हुआ है। कबीर का यह उत्तर लीला में विश्वास रखने वाले अन्य दार्शनिकों की भाँति ही असंगत है, गले से नहीं उतरता। शैतान तो ऐसा कर सकता है, उसका यह काम ही है, किन्तु यदि ब्रह्म भी ऐसा कर सकता है, तो वह ब्रह्म कैसा और उसमें और शैतान में अन्तर क्या? वस्तुत अद्वैतवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है जिसका ठीक उत्तर शंकराचार्य भी न दे सके, और अंत में उन्हें माया को भी नित्य कहना पड़ा। किन्तु माया असत्य है। नित्य और स्थायी तो सत्य है, तो क्या असत्य भी वैसा ही है?

तो कहा जा रहा था कि कबीर के अनुसार ब्रह्म ने ही आत्मा को माया ग्रस्त करके जीव बना दिया और जीव पुन ज्ञान प्राप्त करके माया-मुक्त हो विश्वात्मा अर्थात् ब्रह्म बन सकता है, अपना मूल रूप प्राप्त कर सकता है।

व्यावहारिक दृष्टि से जब तक जीव ज्ञान की प्राप्ति नहीं करता, यह उसके लिए स्वामी, भगवान् पिता माता, पति आदि सब कुछ है, जैसे कि ब्रह्म के प्रकरण में सोद्धरण दिखाया गया है। वस्तुत इस रूप में कबीर ने सासारिक सबंधो का आरोपण किया है। इसका सांकेतिक अर्थ मात्र यही है कि उसके साथ कोई भी सम्बन्ध मानकर जीव उसकी समीपता प्राप्त करे और मुक्ति के लिए उसके यथार्थ स्वरूप को पहचाने।

मुक्ति

जिस कारण आत्मा ससार में बँधकर 'जीव' की सज्ञा लेती है, उसका समाप्त हो जाना ही 'मुक्ति' है। यह कारण है अज्ञान या माया। इससे छूटने पर मनुष्य जन्म मरण से छूट जाता है। आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेती है। उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह परमात्मा से अभिन्न है—

राम कबीर एक भए हैं, को उन सके पछानि।

✓ आत्मा परमात्मा का यह मिलन बराबर के स्तर पर होता है, दोनो एक दूसरे में समाहित हो जाते हैं—

✓ हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समानी समुद में सो कत हेरी जाइ।
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराइ।
समुद समाना बूँद में सो कत हेरा जाइ।

इस प्रकार मिल जाते हैं कि दोनों का व्यक्तित्व अलग नही पहचाना जाता वे एक दूसरे में खो जाते हैं आत्मा भी सच्चिदानद हो जाती है।

होय मगन राम रँगि रामैं।

मुक्ति वस्तुत एक प्रकार की अनुभूति है, अद्वैतता की अनुभूति। यह कही स्वर्ग आदि में जाने पर नही मिलती। कबीर कहते हैं—

राम ! मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुठ कहौ धौं कैसा जो करि पसाव मोहि देहो
जो मेरे जिउ दुइ जानत हौ तो मोहि मुकित बतावौ

× × ×

✓ तारन तिरन तब लग कहिए, जब लग तत्त्व न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में कहै कबीर मन माना।

आशय यह है कि तरन या मुक्ति पाने की बात तो तब तक की है जब तक जीव तत्त्व नहीं जानता। तत्त्व जान लेने पर कौन तारेगा, और किसे तारेगा। तब तो आत्मा-परमात्मा में कोई अतर ही नही रह

जाएगा। इस प्रकार कबीर की मुक्ति अद्वैत की अनुभूति या तत्वज्ञान की प्राप्ति ही है।

कबीर ने 'मुक्ति' के अर्थ में 'निर्वाण' शब्द का भी प्रयोग किया है—

आया सब पर एक समान।
तब हम पाया पद निरबाण।

'निर्वाण' बौद्ध दर्शन का शब्द है। इसका मूल अर्थ है 'बुझना' (दीप-निर्वाण)। बौद्धों में यह 'इच्छाओं का बुझना' है, ताकि पुनर्जन्म न हो। इसके बाद ही पूर्ण शांति की प्राप्ति होती है, वासनाएँ अंतिम रूप में समाप्त हो जाती हैं। कुछ लोगों का विचार है कि कबीर की मुक्ति पर बौद्धों के निर्वाण की भी छाप है। वस्तुतः अद्वैतवादियों की मुक्ति—जो कबीर की भी है—में भी किसी न किसी रूप में ये बातें आती हैं, अतएव इनके सस्पर्श को बौद्ध प्रभाव मानना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोगों ने योगियों के कैवल्य का भी उनकी 'मुक्ति' पर प्रभाव माना है। कैवल्य की विशेषता यह है कि उसमें 'कार्य' 'कारण' में लीन हो जाता है। कबीर ने मुक्ति के प्रसग में जल में तरग के लीन होने—

जैसे जलहि तरंग तरंगनी ऐसे हम दिखलावहिंगे।

आभूषणों के गल कर मूल सोना बनने,

जैसे बहु कंचन के भूषन यह कहि गालि तवावहिंगे।

या बिंब में प्रतिबिंब के समाने

ज्यों बिंबहि प्रतिबिंब समाना,

का उल्लेख किया है। किन्तु यह भी अद्वैतवादियों की 'मुक्ति' के प्रतिकूल नहीं है। वस्तुतः अद्वैतवादियों ने भी इसी रूप में 'जलतरंग-न्याय' और 'कनक-कुंडल-न्याय' का उदाहरण लिया है। कबीर में उसी की छाया है। इस प्रकार कबीर की 'मुक्ति' कुछ विस्तारों को छोड़कर प्रायः पूर्णतः अद्वैतवाद के अनुकूल है।

मुक्ति के संबध में प्रायः यह सोचा जाता है कि उसकी उपलब्धि मरने के बाद होती है, किन्तु ऐसा आवश्यक नहीं। जीते-जी भी आदमी

मुक्त हो सकता है। अज्ञान की समाप्ति और तत्त्व की अनुभूति होने पर जब भी आदमी ब्रह्म से इतना तादात्म्य स्थापित करले कि

हम सब माँहि सकल हम माहीं।
हम थैं और दूसरा नाहीं।

की स्थिति में पहुँच जाए, वह मुक्त है। ऐसे लोग जीवन-मुक्त कहे जाते हैं। कबीर ने 'जीवन मृतक को अंग' में ऐसे लोगों का ही वर्णन किया है। जो व्यक्ति जीते-जी सांसारिक दृष्टि से मरे के समान हो जाए वह इस कोटि में आता है—

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।

कबीर ने अन्य अंगों में इस प्रकार के संकेत दिए हैं, जिनसे उनके इस प्रकार की मुक्ति में विश्वास का पता चलता है। 'गुरु देव को अंग' की एक साखी है—

हँसै न बोले उन्मनी चंचल मेल्हा मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या सदगुरु कै हथियार
गूँगा हूवा बावला बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुरु मारिया बान।

इसमें जीवन-मुक्त की स्थिति का वर्णन है। 'विरह कौ अंग' की एक साखी है—

विरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवाँ पीछें देहुगे सो दरसन किहि काम।

अर्थात् जीते-जी दर्शन में उनका विश्वास है। एक पद भी है—

को जीवत ही मरि जानै
तो पंच सयल सुख मानै
कहै कबीर सो पाया।
प्रभु भेंटत आप गँवाया।

कबीर को—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।

या

अब मन रामहि ह्वै रहा।

आदि पंक्तियाँ कदाचित् कबीर के 'जीवन-मुक्त' होने के बाद अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति-स्वरूप ही कही गई थी। ऐसा व्यक्ति निरभिमानी, सदाचारी, अपना कर्तव्य समझकर फल की आशा के बिना काम करने वाला तथा समदर्शी आदि होता है। मन, वचन, कर्म से वह सहज ही सत्पथ पर चलता है। अपने यहाँ वेदात के ग्रथो में भी इस प्रकार की मुक्ति का उल्लेख मिलता है।

माया

ससार में जीव के बधन का कारण माया है। ससार और उसके सारे प्रलोभन इसी के प्रतिरूप है। जीव इसी के कारण आवागमन के बधन में फँसा है। अपने आकर्षणो के कारण यह मोहक है और सामान्य व्यक्ति के वश का नही है कि इसे छोड दे। कबीर कहते हैं—

मीठी मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरिष को भोलि भोलि खाई।

या

कबीर माया मोहिनी मोहे जाण सुजाण।
भागा ही छूटे नहीं भरि भरि मारै बाण।

कबीर न बडे-बडे देवता ऋषि-मुनि, पडित-ज्ञानी तथा चौरासी सिद्धा आदि का भी इससे ग्रस्त कहा है। (बाँध देव तैंतीस करोरी—आदि, बीजक में)। यह मनुष्य को भक्ति-पथ पर नही चलने देती—

कबीर माया पापणी हरि सूं करे हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम।

या

हरि बिच घालै अतरा माया बडी बिसासा।

यह मनुष्य के मन को अपने हाथ में कर लेती है और उसे तरह तरह के नाच नचाती है।

इक डाइनि मेरे मन में बसे रे। नित उठि मेरे जिय कों डसे रे।

कबीर माया को ब्रह्म द्वारा निर्मित मानते है—

जिनि नट वै नटसारी साजी।

बीजक में कबीर कहते है कि उसके माँ नही है। वह पिता (अर्थात्) ब्रह्म से उत्पन्न हुई है—

नारि एक ससारहि आई।
माय न याके बापहि जाई।

अन्यत्र उन्होने उसे ब्रह्म की स्त्री माना है—

रमैया की दुलहिनि लूटा बजार।

एक अन्य स्थान पर वे उसे 'राम की' कहते हैं—

राम तेरी माया दुंद मचावै।

इस प्रकार, इस माया का कबीर के अनुसार ब्रह्म से सबध है। उपनिषदों में भी ऐसा कहा गया है।

भक्ति, सदाचार या भक्तो की दृष्टि से आदर्श जीवन की विरोधी जितनी भी चीजें हैं, माया म आती है। जैसे अह, मोह, क्रोध, आशा, तृष्णा, काम, लोभ, ममता आदि। कबीर ने एक स्थान पर माया के पाँच पुत्र कहे हैं—

या डाइनि के लरिका पांच रे
निस दिन मोंहि नचावै नाच रे।

यहाँ पाँच का आशय कदाचित् उपर्युक्त में ही प्रमुख पाँच—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ—से है।

सत, रज, तम ये तीन गुण माया के ही कबीर मानते हैं—

माया तरिवर त्रिविध का

या

रजगुण तमगुण सतगुण कहियें सब तेरो माया।

ससार इन्ही तीनो का जाल है। यह ध्यान देने योग्य है कि सतोगुण को भी कबीर माया मानते हैं। कहना न होगा कि सतोगुण बुरा नही

है। सम्भवत इसी लिए तुलसी की तरह वे विद्या और अविद्या, माया के दो रूपो में विश्वास रखते हैं। इस रूप में ऊपर जो अनेक दुर्गुणो की चर्चा की गई है वे अविद्या माया के सैनिक हैं जो मनुष्य का पतन करा हैं। विद्या माया सतोगुणी है, और उसका काम है मनुष्य में अच्छं वृत्तियो को जगाकर उसे सत्पथ पर ले जाना। कबीर कहते हैं—

माया है दुइ भाँति की देखो ठोक बजाय।
एक गहावै राम पद एक नरक लै जाय।

तत्त्वत माया—विद्या हो या अविद्या—भ्रम है। अद्वैतवादी इसी लिए भक्ति को भी मिथ्या मानते हैं। माया की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, वह असत्य है। कबीर 'बेली कौ अग' में माया को बेल या वृक्ष मानकर उसकी सत्ता अस्वीकार करते हुए कहते हैं—

आंगणि बेल अकासि फल अणब्यावर का दूध।
ससा सींग की धनुहडी, रमै बांझ का पूत।

जगत्

अद्वैतवादियो की तरह कबीर के लिए भी जगत मिथ्या और स्वप्न वत् है। तत्त्वत उसकी सत्ता पारमार्थिक न होकर व्यावहारिक है।[1] अज्ञानी या मायाविष्ट के लिए तो यह सत्य लगता है क्योकि वे पार मार्थिक सत्य को नही देख पाते, किन्तु ज्ञानी या जीवन-मुक्त को जो पार मार्थिक सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं, उन्हें यह असत्य दीखता है। कबीर कहते हैं—

तरवर एक पेड बिनु ठाडा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहि वाके, अष्ट गगन मुख बागा।

अज्ञानी आत्मा इस भ्रम पर ही मोहित है—

साखा पेड फूल फल नाहीं, ताकी अमृतवाणी।
पुहुपवास भँवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।

[1] सत्ताएँ चार प्रकार की कही गई हैं पारमार्थिक व्यावहारिक, प्राति भासिक और अलीक। पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म की है। जगत् की

ावहारिक सत्ता है, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से जगत् की सत्ता प्रातिभा-
ाक भी है। सीपी में रजत, या रज्जु में सर्प होता नही, केवल
सके होने का भ्रम हो जाता है, जिसे अध्यास कहते हैं। भ्रम पर
ाधारित सत्ता ही प्रातिभासिक है। प्रातिभासिक सत्ता मूल का एक परि-
र्तित रूप है, किन्तु परिवर्तन भी दो प्रकार का होता है - विकार और
वेवर्त। दूध का विकार दही है। यहाँ मूल में परिवर्तन हो गया है।
र्प, रज्जु का विकार न होकर विवर्त है, क्योकि वहाँ मूल में कोई परि-
र्तन नही हुआ। एक नयी सत्ता का भ्रम-मात्र हो गया। प्रातिभासिक
त्ता विवर्त्त ही है। अद्वैतवादियो की तरह, कबीर भी जगत् को ब्रह्म का
विवर्त्त मानते है। वह है नहीं। देखने वाले के अज्ञान या भ्रम के कारण
दिखाई देता है। कबीर कहते हैं—

कहो भाई अबर कासूं लागा। कोइ जानेगा जाननहारा।
अवरि दीसे केता तारा। कौन चतुर ऐसा चितरन हारा।
जो तुम देखो सो यहु नाहीं। है यह पद अगम अगोचर माहीं।

ये पक्तियाँ सृष्टि के सबध में कही गई हैं। अतिम पक्तियो में
प्रतिभासिक सत्ता की ओर सकेत है। जो जगत् दिखाई पडता है, वह है
नहीं—यह अगम अगोचर ब्रह्म में विवर्त या अध्यास है। कबीर वास्त-
विकता या पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से इसका होना अस्वीकार करते हैं—

नहिं ब्रह्माड, प्यड पुनि नाहीं, पचतत्त्व भी नाहीं।

× × × ×

नहि तन नहि मन नहि अहकारा।
नहि सत रज तम तीनि प्रकारा।

जगत् की इस विवर्त्तवादी उत्पत्ति को कबीर ने अन्य उदाहरणो—
जल-हिम, मृत्तिका घट आदि द्वारा भी समझाया है।

विवर्त्तवादी की ही तरह प्रतिबिंबवाद भी अद्वैतवादियो को मान्य
रहा है। इसे सूफियो ने भी अपने दार्शनिक विचारो में स्थान दिया है।
इसके अनुसार जगत् ब्रह्म का प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब सत्य नही होता,

उसी प्रकार जगत् भी सत्य नहीं है। कबीर ने भी इसे अभिव्यक्ति दी है

ज्यों दर्पन प्रतिबिंब देखिए आप दवासू सोई।

कबीर ने उपनिषदो तथा अन्य ग्रथो में दिये गए वृक्ष के उस प्रसि रूपक को भी लिया है, जिसके अनुसार ससार एक वृक्ष है, जिस । शाखाएँ आदि तो नीचे हैं और जिसकी जड (ब्रह्म) ऊपर है—

तलि कर शाखा उपरि करि मूल।
बहुत भाँति जड लागे फूल।

इस रूपक में जगत् का केवल कार्य-कारण स्पष्ट किया गया है कबीर के अनुसार जगत् का स्वरूप जितना स्पष्ट ऊपर के उदाहरणों है, उतना यहाँ नही।

बीजक की प्रारभिक रमैनियो में सृष्टि की उत्पत्ति का बिल्कुल दूसरे रूप में कुछ क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया गया है, किन्तु उसे पढ़न से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कबीर रचित नहीं है।

शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति की बात अनेक धर्मों के ग्रथो में दी गई है। अपने यहाँ प्रणव या ओंकार से उत्पत्ति मानी गई है। कबीर की रचनाओ में यह मत भी मिलता है—

ऊंकारे जग ऊपजै बिकारै जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि रह्या गगन मठ छाइ।

जगत की उत्पत्ति या सृष्टि के प्रसग में कबीर न अष्टधा प्रकृति तथा पाँच तत्वो की उत्पत्ति की भी बात की है। एक जगह वे कहते हैं—

पच तत्त्व अविगत थे उत्पना यकै लिया निवासा।
बिछुरे तत फिर सहज समाना देख रही नहीं आसा।

इस प्रकार जगत के सबध में कबीर में कई प्रकार की बातें मिलती है जिनमें उनका अद्वैतवादी दृष्टिकोण ही प्रमुख है, जिसके अनुसार इसकी सत्ता तत्वत प्रातिभासिक है।[1]

---

१ कुछ लोग दर्शन में जीवन दर्शन या व्यवहार-दर्शन को भी लेते हैं उनके लिए देखिए धर्म आचार आदि विषयक अध्याय।

६

भक्ति

यों तो भक्ति के प्रारंभिक सूत्र लोगों ने वेदों और उपनिषदों में भी खोज निकाले हैं, किंतु महाभारत के कुछ अंशों, कुछ पुराणों तथा नारद और शांडिल्य के भक्ति सूत्रों आदि में ही इसका स्पष्ट और निश्चित स्वरूप दिखाई पड़ता है। इसके स्वरूप को और निश्चित करने एवं प्रचार की दृष्टि से, प्रथम उल्लेख्य नाम यामुन मुनि के शिष्य रामानुजाचार्य (१०१६–११३९ ई०) का है। माधव, निम्बार्क और विष्णुस्वामी आदि ने इसका पथ और भी प्रशस्त किया। इस प्रकार भक्ति का विकास भौगोलिक दृष्टि से दक्षिण भारत में हुआ और उत्तरी भारत में इसे रामानंद लाए। एक प्रसिद्ध दोहा भी है—

भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नव खंड।

भागवत माहात्म्य की वह कल्पित कथा भी भक्ति के दक्षिण से उत्तर में आने की बात को बल देती है, जिसमें भक्ति ने नारद से कहा है कि मैं द्रविड़ में पैदा हुई, कर्नाटक में पली, महाराष्ट्र में ताप-पीड़ित होकर गुजरात में पहुँची तो लोगों ने मेरा अंग भंग कर डाला और अब वृन्दावन में आकर मैं फिर स्वस्थ हुई हूँ।

उपर्युक्त दोहे से यह स्पष्ट है कि उत्तरी भारत में भक्ति के प्रचार और प्रसार में कबीर का कितना हाथ है। इस प्रकार कबीर ने केवल

बहुत बड़े भक्त थे, अपितु भक्ति के एक बहुत बड़े प्रचारक भी थे ।

कबीर ने भक्ति पर बहुत बल दिया है । वे कहते हैं—

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार ।
धूवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार ।

उनके अनुसार राम के भगत को छोड़ कर संसार में सभी अपवित्र हैं और मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति ही है—

बिनु हरि भगति न मुकुति होई, इउ कहि रमे कबीर ।

या

कहै कबीर हरि भगति बिन मुक्ति नहीं रे मूल ।

या

जब लग भाव भगति नहि करिहौं ।
तब लग भव सागर क्यो तरिहौं ।

यही नही, कबीर यह भी कहते हैं कि भक्ति के बिना ज्ञान भी कोई अर्थ नही रखता—

ब्रह्म कथि-कथि अंत न पाया ।
राम भगति बैठे घर आया ।

या

झूठा जप तप झूठा ज्ञान
राम नाम बिन झूठा ध्यान ।

योग भी नही—

जोग ध्यान तप सबै बिकार ।
कहै कबीर मेरे राम अधार ।

उपर्युक्त उदाहरण 'कबीर-ग्रंथावली' तथा संत कबीर' से है । 'बीजक' को बहुत से लोग ज्ञान प्रधान ग्रंथ कहते हैं, वहाँ भी—

निरपछ ह्वै के हरि भजै, सोई संत सुजान ।

आदि रूपों में भक्ति का महत्व दिखलाया गया है ।

ज्ञान

किन्तु कबीर भक्त के साथ ज्ञानी भी है। उनको भक्तिकालीन ज्ञानाश्रयी शाखा में सर्व प्रमुख माना गया है। उन्होंने ज्ञान पर भी पर्याप्त बल दिया है —

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी।
वाकी विधवा काहे न भई महतारी।

मुक्ति के लिए माया और भ्रम आदि की समाप्ति आवश्यक है। कबीर कहते हैं—

सतो भाई आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी, माया रहै न बांधी।
हित चित की द्वै थूनी गिरानी मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्ना छान्न परी घर ऊपर कुबुधि का भाडा फूटा।

आवागमन से छुटकारे के लिए भी यह आवश्यक है—

कहै कबीर जे आप विचार मिट गया आना-जाना।

ग्रंथावली में 'ग्यान विरह' का एक अलग अग है, जिसमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। प्रकाश या आग को वे ज्ञान का प्रतीक मानते है, जो अज्ञानान्धकार को दूर करता है। अज्ञान दूर होने पर ही आत्मा को अद्वैत की अनुभूति होती है, जो कबीर का साध्य है।

ज्ञानी या भक्त

इस प्रसग में लोगो ने प्रश्न उठाया है कि कबीर ज्ञानी थे या भक्त? कुछ अद्वैतवादियो के अनुसार, जैसा कि अन्यत्र भी कहा जा चुका है, भक्ति भी माया या अज्ञान है। ऐसी स्थिति में भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं। तो फिर कबीर या तो भक्त रहे होंगे या ज्ञानी? दोनों नही।

यह प्रश्न कुछ गहराई से विचारणीय है। पहले देख लेना चाहिए कि ज्ञान और भक्ति में क्यों विरोध है। अन्यत्र कबीर के दार्शनिक विचारो पर विवेचन करते समय यह कहा जा चुका है कि अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा दो नहीं है, अपितु तत्वत. एक हैं। किन्तु

भक्ति में दो का होना आवश्यक है। आत्मा भक्त और परमात्माभगवान्। बिना दो अर्थात् द्वैत के भक्ति हो ही नहीं सकती। यदि एक होगा तो कौन भक्ति करेगा और किसकी ? इस प्रकार ज्ञान में अद्वैत आवश्यक है और भक्ति में द्वैत। इसीलिए प्राय लोग ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे का विरोधी समझते हैं।

एक बात और। ज्ञानी के लिए भगवान् सगुण नही निर्गुण है। उनका अवतार नही होता, किन्तु भक्त उनको सगुण भी मानता है और उनके अवतारो में भी उसका विश्वास होता है।

दोनो को एक दूसरे का विरोधी समझने के ये ही दो कारण हैं। किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाए तो दोनो में अंतर तो है, किन्तु इस प्रकार का विरोध नही है, जैसा कि प्राय लोग मानते हैं। पहले, प्रथम बात लें। यह तो ठीक है कि अद्वैतवादी ज्ञानी आत्मा-परमात्मा को एक मानता है, और भक्त के लिए दोनो दो हे, भगवान् बहुत ऊँचा और आत्मा हर दृष्टि स बहुत नीची, किन्तु अद्वैतवादी ज्ञानी आत्मा परमात्मा के एक की अनुभूति यो ही नही प्राप्त कर लेता। इसके लि उसे बहुत प्रयत्न करना पडता है। भक्ति भी इसी प्रयत्न में सम्मिलित है तुलसी के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने अपने सुप्रसिद्ध पुस्तक 'भगवद्भक्ति रसायन' में इसी दृष्टि से कहा है कि 'अद्वैत' में भी आरभ में द्वैत होता है। बाद में द्वैत का विकास अद्वैत में हो जाता है। अर्थात् अद्वैत की अनुभूति की प्राप्ति के लिए 'भक्ति' एक साधन है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अद्वैतवादी ज्ञानी के लिए भक्ति वह सीढी है, जिसके सहारे वह अद्वैत की ऊँचाई पर चढता है। जब तक वह पहुँच नही जाता, सीढी का सहारा लेता है, किन्तु वहाँ पहुँच जाने पर वह सीढी उसके लिए निरर्थक हो जाती है। उसके लिए सत्य वह ऊँचाई ही है, वही उसका साध्य है। किन्तु साध्य तक पहुँचने के पूर्व उस साधन का, जो उसके लिए वास्तविक सत्य नहीं है, मात्र साधन है, पर्याप्त महत्व है। साधको का कहना है कि अद्वैत की अनुभूति के साधन,

रूप में भक्ति सबसे सरल है। मनुष्य के लिए भाव से चलकर ज्ञान पर पहुँचना सरल है। यों एक भक्त भी भगवान में पूर्णत तन्मय हो जाने पर, द्वैत या भक्त और भगवान की नहीं, अपितु अद्वैत की अनुभूति करता है। एक प्रसिद्ध सूफी कहानी इस प्रसग में काम की हो सकती है।

एक व्यक्ति एक सूफी सत के यहाँ शिष्य बनने गया। सत ने कहा कि सब को तो मैं शिष्य नही बनाता, परीक्षा लूँगा, यदि तुम उत्तीर्ण हो गए तो शिष्य बना लूँगा। परीक्षा शुरू हुई। सत ने उस व्यक्ति को एक कमरे में बिठा दिया। उस कमरे का दरवाजा बहुत छोटा था। सत ने उससे 'भैंस भैंस', जपने को तथा भैंस के स्वरूप का ध्यान करने को कहा। दो-तीन दिन इसी तरह बीत गए। सत ने उसका नाम लेकर बुलाया और कहा कि बाहर आ जाओ। वह व्यक्ति बाहर आ गया। सत ने उसे अनुत्तीर्ण कहकर फिर कमरे में वही करने के लिए भेज दिया। वह व्यक्ति 'भैंस भैंस' करता और भैंस के स्वरूप का ध्यान करता रहा। अत में एक दिन सत ने जब उसे बाहर बुलाया तो वह बोल उठा, 'बाहर कैसे आऊँ, मेरे सीग दरवाजे में अँटक जायेंगे।' अब वह उत्तीर्ण था।

इस प्रकार भक्ति ज्ञान की विरोधिनी नही, उसकी सहायक है। साथ ही भक्ति भी, बिल्कुल ही बिना ज्ञान के हो जाती हो, ऐसी बात नही। ससार के प्रलोभनो को छोडकर भक्ति मार्ग पर आना अपने-आप में ज्ञान-सापेक्ष्य है।

अब दूसरी बात उठाई जा सकती है। प्राय यह समझा जाता है कि भक्ति केवल सगुण की ही हो सकती है। यह भ्रम भक्ति और पूजा को एक मानने से हो जाता है। भक्ति भगवान् में अत्यधिक अनुरक्ति है। यह अनुरक्ति निर्गुण या निराकार के प्रति भी हो सकती है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि, सगुण की भक्ति जितनी आसान है, उतनी निर्गुण की नही। पर्याप्त प्रबुद्ध व्यक्ति ही निर्गुण भगवान् की भक्ति कर सकता है।

विद्यारण्य स्वामी की पचदशी का एक श्लोक इस प्रसग में

उल्लेख्य है—

> निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः ।
> सगुण ब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात् ।
> अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
> अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं च न सम्भवेत् ।
> वागाद्यगोचराकारमित्येव यदि वेत्त्यसौ ।
> वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनो बातें भक्ति और ज्ञान को अविरोधी मानने में बाधक नहीं हैं। ऐसी स्थिति में कबीर भक्त और ज्ञानी दोनों ही थे। वस्तुतः उस काल में ज्ञान और भक्ति को विरोधी समझा जाता था। इस बात को तथा सगुण निर्गुण को लेकर भ्रमरगीत परंपरा के विवाद, या तुलसी के मानस आदि की कुछ पंक्तियाँ ऐसा मानने के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती हैं। कबीर ने देखा कि, तत्वतः दोनों एक दूसरे के सहायक या कुछ अंशों में पूरक हैं, अतः इन दोनों तथाकथित विरोधों में उन्होंने समन्वय स्थापित कर दिया।

कबीर की भक्त और ज्ञानी होने की समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती। विद्वानों ने यह भी कहा है कि वे तत्वतः भक्त थे। ज्ञान को भक्ति के साधन के रूप में ही उन्होंने स्वीकार किया। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस बहु प्रचलित मान्यता से सहमत नहीं है। तुलसी और सूर आदि ने ज्ञान के जितने अंश को स्वीकार किया भक्ति के साधन के रूप में इसमें संदेह नहीं। तुलसी ने तो स्पष्ट कहा भी कि वे अपनी सारी साधना के फलस्वरूप भक्ति ही चाहते हैं निर्वाण या मुक्ति नहीं। इससे स्पष्ट है कि भक्ति उनके लिए साध्य है। किंतु कबीर की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। उनके दार्शनिक विचार में ब्रह्म आत्मा और मुक्ति पर एक दृष्टि दौड़ाने पर यह बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके लिए न तो भक्ति साध्य है और न ज्ञान उनका साध्य है ब्रह्म से ऐक्य की अनुभूति। ऐसी अनुभूति कि कबीर और राम में कोई अंतर न रहे ऐसी स्थिति का

जाय—

कोई कहो कबीर, कोई कहो राम राई हो।

या

हम सब माँहि सकल हम माहीं
हम थे और दूसरा नाहीं।

इस साध्य के लिए उन्होंने सभी प्रचलित साधनों को अपने साधन के स्वरूप में स्वीकार किया—ज्ञान को, भक्ति को, योग को। इतना ही नहीं 'कर्म' को भी—

कबीर जे धंधै तो धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि जिन धंधै में ध्याया नहीं।

यहाँ धंधा कर्म है। 'ध्याया' में व्यापक दृष्टि से ज्ञान, भक्ति, योग तीनों हैं। ठीक से ध्यान, तीनों के योग से ही संभव है। इस प्रकार उन्होंने साध्य के प्राप्यर्थ भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म चारों का समन्वय किया है। कबीर के पूर्व और उनके बाद भी चारों का यह योग दुर्लभ है। इसी समन्वय के कारण कबीर और उनकी परंपरा के सन्तों का धर्म मंदिर मस्जिद, पूजा-पाठ से उतरकर सामान्य पृथ्वी पर आ गया था। उन्हें अपना कर्म छोड़कर भक्त बनने की आवश्यकता नहीं थी। इस रूप में कबीर ने प्रथम बार, धर्म को जीवन और धरती का धर्म बनाया। मनुस्मृति में जो धर्म का स्वरूप है, वह भी इसी की तरह जीवन का धर्म है, कर्मरत लोगों का धर्म है, सन्यस्तों का नहीं। वहाँ धर्म के दस लक्षणों में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय निग्रह, बुद्धि विद्या, सत्य अक्रोध को स्थान दिया गया है। इसमें सच पूछा जाय तो किसी न किसी रूप में ज्ञान, योग, कर्म तीनों आ गए हैं। कमी थी तो केवल भक्ति की। कबीर ने अपने भक्ति ज्ञान योग-कर्म के समन्वय द्वारा उसकी पूर्ति कर दी। इस रूप में कबीर के धर्म का स्वरूप विश्व में अप्रतिम है। केवल गीता उसके समीप है। इसी कारण कबीर, सूर-तुलसी की तरह कर्मक्षेत्र से अलग होकर केवल भक्त बनकर अपने भरण के लिए परमुखापेक्षी न हुए, अपितु जुलाहा भी

बने रहे। कबीर का आदर्श मानव 'जीवन-मृतक' है जो अपने सारे काम तटस्थ भाव से, भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित भाव-भूमि पर पहुँच कर भी करता रहता है।

इस प्रकार कबीर में भक्ति के साध्य रूप में 'ज्ञान' को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यों साधन, स्वरूप भक्ति, ज्ञान, योग और कर्म चारों का ही, अपना-अपना महत्व है—और सभी एक दूसरे के पूरक हैं, फिर भी कबीर के अंतिम लक्ष्य या साध्य की प्राप्ति में ज्ञान का विशेष महत्व है, इसीलिए उनकी साधना में ज्ञान का स्थान अपेक्षया प्रमुख कहा जा सकता है।

योग

कबीर भक्ति के लिए योग को आवश्यक मानते हैं—

तन खोजौ नर ना करौ बडाई।
जुगति बिना भगति किन पाई।

वे अन्यत्र भी कहते हैं—

ससिहर सूर मिलावा। तब अनहद बैन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै। तब साईं संगि बिराजै।

इसका कारण यह है कि योग से मन वश में हो जाता है, और चित्तवृत्तियों का निरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध) हो जाता है, जिससे भगवान् का ध्यान एकाग्रचित्त होकर किया जा सकता है—

मनकर निहचल आसण निहचल रसना रस उपजाइ।
चित करि बटुआ तुचा मेषली भसमैं भसम चढाइ।
तजि पाखंड पाँच करि निग्रह खोजि परमपद राइ।

अनहद नाद के सुनाई पड़ने पर वे योग की सिद्धि मानते हैं—

अनहद शब्द उठै झनकार।
तहँ प्रभु बैठे समरथ सार।

(कहीं कहीं पर उन्होंने योग की निंदा भी की है। वहाँ उनका आशय यह है कि, भक्ति और ज्ञान के बिना मात्र योग का कोई अर्थ नहीं।)

कबीर की भक्ति का स्वरूप

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, कबीर की भक्ति का उद्देश्य मात्र आध्यात्मिक उन्नति नही था। वे इस बात से परिचित थे कि अकेले आध्यात्मिक उन्नति संभव भी नही है। जिस व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति करनी हो, उसे अपने आचार-विचार और व्यवहार आदि को भी एक उच्च धरातल पर लाना चाहिए। इसी कारण उनकी भक्ति वैयक्तिक तो है ही, साथ ही उसका सामाजिक पक्ष भी प्रबल है। मनुष्य को समाज में रहना है, अतएव उन सामाजिक बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक है, जिनके कारण समाज रहने योग्य रहे। यदि चारों ओर आग लगी हो, तो उसके बीच एक व्यक्ति निश्चिततापूर्वक शीतल नहीं रह सकता, इसीलिए पूरे समाज का वातावरण अनुकूल होना चाहिए और भक्त को उसे ठीक पथ पर लाकर अनुकूल बनाना चाहिए। इसमें उसका स्वार्थ तो है ही, परमार्थ भी है। कबीर इसका संकेत करते हैं—

कबीर आपण राम कहि औरां राम कहाइ।
जिहि मुख राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ।

यहाँ 'राम कहने' का अर्थ केवल वाणी से राम कहना नहीं है। वे इस बात से अपरिचित नहीं थे कि, जीभ से चीनी चीनी कहने मात्र से मुँह मीठा नहीं होता। 'राम कहना' यहाँ भक्ति का प्रतीक है। राम हृदय से कहा जाता है, और जो हृदय से राम कहेगा, वह भक्त होकर ही कहेगा। उनकी भक्ति में समाज का कितना अधिक ध्यान रखा गया है, इस बात का पता उनके उस छंद से चलता है, जिसमें उन्होंने भक्त में उन सारे गुणों को आवश्यक कहा है, जिनकी समाज को सुख-शान्ति के लिए बहुत आवश्यकता है। छंद इस प्रकार है—

राम भजै सो जानिये, जाके आतुर नाहीं।
सत, संतोष लीये रहै, धीरज मन माहीं।
जन को काम-क्रोध व्यापै नहिं, त्रिष्णा न जरावै।

प्रफुल्लित आणद में गोविंद गुण गावै।
जन को पर निंदा भावै नहिं, अरु असत न भाखै
काल-कल्पना मेटिकर चरनू चित राखै।
जन समद्रिष्टी सीतल सदा दुबिधा नहिं आनै।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मानै।

(इसमें भक्त में धैर्य, सतोगुणी वृत्ति, सतोप, अकाम, अक्रोध, अतृष्णा, दूसरे की निंदा न करना, सत्य, भाषण, समदृष्टि समरसता, असशयता आदि को आवश्यक माना गया है) कबीर का मन केवल ऐसे ही भक्त से मानता है। कहना न होगा कि इन सद्वृत्तियो में व्यक्ति और समष्टि दोनों की उन्नति पर पूरा ध्यान रखा गया है। ये गुण भक्त के लिए तो अच्छे हैं ही, साथ ही यदि चौथी और छठी पक्तियों—जिनमें गुण कीर्तन और भगवान् के चरणो में प्रेम पर बल है—को छोड दें तो, सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी शाति एव सुख तथा साथ साथ समाज को सुखी और शात रखने के लिए, भी उतने ही अच्छे और आवश्यक है। कबीर के इस छद में मनु के धर्म विषयक श्लोक की ही भावना है। एसी भक्ति या एमा धर्म व्यक्ति धर्म नही, अपितु मानव धम है, विश्व धर्म है।

कबीर की भक्ति मूलत शुद्ध वैष्णव भक्ति है। वैष्णव भक्ति के गग पाराशर नारद, शाडिल्य *अगिरा आदि आचार्य हो गए* है। इनमें आज शाडिल्य अगिरा तथा नारद के ही भक्ति सूत्र उपलब्ध है। इन तीनो में नारदी भक्ति विशप रूप से दक्षिण भारत में प्रचलित रही है, और *हम जानते हैं* कि भक्ति मूलत उधर से ही उत्तर भारत में पहुँची है अत मध्ययुगीन भक्ति को अधिकाशत नारदी भक्ति कहना सत्य से दूर न होगा। रामानुजाचार्य तथा रामानद आदि ने भी नारदी भक्ति को ही अपना आदर्श माना है। कबीर भी नारदी भक्ति के ही अनुयायी हैं। वे कहते हैं—

भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा।

या

भगति नारदी रिदै न आई, काछि-कूछि तन दीना।

नारद के भक्ति-सूत्रों का कबीर की कविता से तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों में पर्याप्त समानता है। ऊपर धर्म या भक्ति के जिस सामाजिक पक्ष की बात की गई है, वह भी नारद के सूत्रों में सांकेतिक रूप में है। उनके ७८वें सूत्र (अहिंसासत्य-शौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि) में अहिंसा, सत्य, शौच तथा दया आदि को भक्त के लिए आवश्यक कहा गया है।

प्रेम भगति

कबीर की भक्ति में उपर्युक्त सामाजिक बातों पर तो बल है ही, किन्तु उनमें सबसे अधिक बल भगवान से प्रेम पर है। या आगे हम देखेंगे कि भक्ति के अन्य रूप भी उनके काव्य में पूर्णतया अनुपस्थित नहीं हैं, किन्तु इस पर बल काफी है। मुसलमानी धर्म और उनके दर्शन से परिचित लोगों के लिए यह अज्ञात नहीं है कि, वहाँ खुदा और आदमी के बीच का रिश्ता भय का है। कुरान में इस बात को बार-बार दुहराया गया है। खुदा एक शासक है। इस्लामिक कोश (डिक्शनरी ऑफ इस्लाम) में स्टेनली लेनपोल ने स्पष्ट शब्दों में इसे (दि फीयर रादर दैन दि लव ऑफ गॉड इज स्पर टु इस्लाम) स्वीकार किया है। दूसरी ओर तुलसी आदि में यह संबंध स्वामी-सेवक का है। कबीर में अन्य संबंधों के संकेत तो हैं, किन्तु प्रमुखतः उनमें प्रेम का संबंध है। उन्होंने अपनी भक्ति को कहीं-कहीं प्रेम भक्ति कहा भी है—

प्रेम भगति ऐसी कीजिए मुखि अमृत बरिषै चंद।

या

कहु कबीर जन भये खलासे, प्रेम भगति जिह जानी।

इस प्रेम भक्ति के कारण ही उन्होंने अपने को पत्नी और भगवान्

को पति माना है[1] और तरह-तरह से प्रेम[2], विरह[3] या मिलन[4] के भावों की अभिव्यक्ति की है। उनका रहस्यवाद एवं प्रेम के प्याले का पीना भक्ति के इसी स्वरूप पर आधारित है। भक्ति के इस स्वरूप पर सूफियों के प्रेम का कुछ प्रभाव पड़ा है किन्तु साथ ही नारदी भक्ति के प्रेम से भी यह संबद्ध है। नारद के दूसरे सूत्र में ही प्रेम को 'परम प्रेम रूपा' कहा गया है। अंतिम सूत्र में कहा गया है कि जो इस भक्ति में विश्वास रखता है वह अपने प्रियतम को पाता है। (स विश्वसिति स प्रेष्ठं लभते)। वैष्णव शब्दावली में कबीर की भक्ति इस रूप में मधुरा भक्ति भी कही जा सकती है।

नवधा भक्ति

भागवत में भक्ति के नौ भेद किये गए हैं—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम।
अर्चन वंदन दास्य सख्य आत्मनिवेदनम।

भक्ति के ये स्वरूप सगुण भगवान के भक्तों में विशेष रूप से मिलते हैं, किन्तु कबीर में भी इनमें से अधिकांश को खोजा जा सकता है—

[1](१) राम मेरे पिव म राम की बहुरिया।

(२) कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं बहुगुणयाले कंत।

[3](३) बिरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाऊँ।

या

[3] कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।

बिरहणि पिव पावै नहीं जियरा तलप माइ।

या

मन्दिर माँहि भया उजियारा ले सूती अपना पियारा।

स्मरण

मेरा मन सुमरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।

भक्तो के सामान्य 'स्मरण' या नाम जपने से कबीर का स्मरण भिन्न है। पीछे भेंस की कहानी का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ कबीर का उस भावपूर्ण स्मरण से अभिप्राय है जिसमें डूबकर स्मरणकर्ता स्वयं राम या 'भगवान्' बन जाता है। साथ ही उनका 'स्मरण' या 'सुमिरण' बहुत पूर्ण है—

मनसा वाचा क्रमना कबीर सुमिरण सार।

यह सामान्य भक्तो-सा केवल वाणी का ही नही है। इस प्रसग में कबीर का अजपाजप भी उल्लेख्य है, जिसमें बिना जपे भी हर सांस में जप चलता रहता है—

सुरति समाणी निरति मे अजपा माहें जाप

कीर्तन

कबीर सूता क्या करै, गुण गोविंद के गाइ।

या

गुण गायें गुण नाम कटैं, रटै न राम वियोग।

या

निरमल निरमल राम गुण गावै, सो भगता मेरे मन भावै।

कबीर का कीर्तन भी सामान्य नही है। ज्यो-ज्यो गुणो को याद करके कीर्तन करते हैं उन्हें एक तीर-सा लगता है अर्थात् विरह की अनुभूति होती है—

ज्यूँ ज्यूँ हरि गुण साँभलूं त्यूँ त्यूँ लागै तीर।

श्रवण—

सबद सुनत जिव नीकस्या भूलि गई सब देह।

कबीर भगवान के नाम या गुण आदि के श्रवण के समय अपनी सुध-बुध खो देते है।

अन्यत्र भी—

वाह वाह क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है।

वंदन

मायो के बंधन से छूटने के लिए वंदना करते हैं—

माधो कब करिहो दाया।

काम क्रोध अहंकार व्यापै ना छूटै माया।

अर्चन

कबीर का अर्चन भी अपने ही ढंग का है। वे कहते हैं—

देवल माहे देहुरी तिल जैसे बिसतार।

माहें पाती माँहि जल, माहे पूजणहार।

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

जेहि पूजा हरिमन भावं, सो पूजनहार न जानै।

दास्य

जो सुख प्रभु गोविंद की सेवा, सो सुख राज न लहिये।

या

कबीर का स्वामी गरीबनिवाज

या

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।

या

उस समर्थ का दास हौं कदे न होइ अकाज।

पादसेवन

राम चरन मनि भाए रे।

या

चरन कमल मन मानिया और न भावै मोहि रे

या

निराकार निज रूप है प्रेम प्रीत से सेव।

सख्य

जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख।

या

कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पुरबला लेख ।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख।

आत्मनिवेदन

यह पूर्ण आत्म-निक्षेप या समर्पण है। कबीर में इसके पर्याप्त उदाहरण हैं—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी जित खेंचे तित जाउं।
तो तो करै न बाहुड़ो, दुरि दुरि करै तो जाउं।
ज्यूं हरि राखे त्यूं रहौं, जो देवे सो खाउं।

या

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता क्या लागे है मेरा।

या

तन मन जीवन सौंपि सरीरा। ताहि सुहागिन कहै कबीरा।

इस प्रकार कबीर में नवधा भक्ति के अधिकांश रूप मिल जाते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि तुलसी आदि सगुण भक्तों से इनकी भक्ति इस बात में भिन्न है कि वह बाह्याचार, पूजा, उपासना या कर्मकांडीय भक्ति न होकर 'भाव भगति' है। उसके लिए जल, फूल, चंदन आदि बाह्य उपकरणों की जरूरत नहीं। जरूरत है केवल 'भाव' की। इस रूप में कबीर ने भक्ति या अपनी भक्ति को 'भाव भगति' ठीक ही कहा है—

भाव भगति विसवास बिन कटै न संसै मूल।

या

जब लग भाव भगति नहीं करिहौं।
तब लग भवसागर क्यों तरिहौं।

ऊपर अर्चन एवं पादसेवन के कुछ उदाहरणों से भी यह बात स्पष्ट है।

भक्ति के ग्यारह भेद

कबीर के आदर्श नारद ने भक्ति के ग्यारह भेद किए हैं।[१] इनको उन्होंने 'आसक्ति' कहा है। इन भेदों में गुण महात्म्य कीर्तन (पूजा) (अर्चन), स्मरण, दास्य और आत्मनिवेदन तो उपर्युक्त नौ भेदों में आ चुके हैं, और उनके उदाहरण वहाँ दिये जा चुके हैं। शेष के उदाहरण इस प्रकार हैं—

रूपासक्ति

कद्रप कोटि जाके लावन करें,

या

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।

यहाँ कबीर की रूपासक्ति मीराँ जैसी नहीं है। मीराँ की आसक्ति कृष्ण के रूप के प्रति थी। कबीर की आसक्ति साकार के प्रति नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या अरूप के प्रति भी रूपासक्ति हो सकती है। रूप तो आँखों का विषय है, किन्तु ब्रह्म तो इन्द्रियों से परे है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ कबीर का अर्थ कुछ और है। लगता है कि जैसे निर्गुण मानते हुए भी उन्होंने ब्रह्म में दयालुता आदि कई गुणों का आरोप किया है, उसी प्रकार यहाँ एक आकर्षक गुण के रूप में सौन्दर्य का आरोप है। यों 'राम की बहुरिया' का अपने 'बहुगुणियाले कंत' के प्रति रूप की दृष्टि से भी आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। कबीर 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग' में कहते हैं—

---

१. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्ति दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदना— सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपाएकधाप्येकादशधाभवति।

तिकूल का वर्जन

माया के सैनिकों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, पर निन्दा, धन, कुसंग, कपट आदि—से दूर रहने की बात कबीर ने बार-बार कही है। उदाहरणार्थ—

हरि गुन गाइ बंग मैं दीन्हा।
काम क्रोध दोउ बिसमल कीन्हा।

वान् द्वारा रक्षा में विश्वास—

भक्त का भगवान् में विश्वास बहुत आवश्यक है। कबीर ने विश्वास बड़ा बल दिया है। साखियों का एक अलग अंग ही 'विश्वास' शीर्षक है। वे कहते हैं—

मोंहि भरोसा इष्ट का बंदा नरकि न जाइ।
या
कबीर तू काहे डरै सिर पर हरि का हाथ।
या
भेर मिटी मुकता भया पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस।

पैण्य है भगवान् के आग अपन को दीन-हीन समझना। ऊपर के उदाहरणों (प्रपत्ति, आत्मनिवेदन आदि) में इस प्रकार के भाव हैं। विनय के पद भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। कुछ उदाहरण

माधौ कब करिहौ दाया।
या

ऊपर अर्चन एवं पादसेवन के कुछ उदाहरणों से भी यह बात स्पष्ट है।

भक्ति के ग्यारह भेद

कबीर के आदर्श नारद ने भक्ति के ग्यारह भेद किए हैं।[1] इनको उन्होंने 'आसक्ति' कहा है। इन भेदों में गुण महात्म्य कीर्तन (पूजा) (अर्चन), स्मरण, दास्य और आत्मनिवेदन तो उपर्युक्त नौ भेदों में आ चुके हैं, और उनके उदाहरण वहाँ दिये जा चुके हैं। शेष के उदाहरण इस प्रकार है—

रूपासक्ति

कद्रप कोटि जाके लावन करैं,

या

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।

यहाँ कबीर की रूपासक्ति मीरां जैसी नहीं है। मीरां की आसक्ति कृष्ण के रूप के प्रति थी। कबीर की आसक्ति साकार के प्रति नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या अरूप के प्रति भी रूपासक्ति हो सकती है। रूप तो आँखों का विषय है, किन्तु ब्रह्म तो इन्द्रियों से परे है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ कबीर का अर्थ कुछ और है। लगता है कि जैसे निर्गुण मानते हुए भी उन्होंने ब्रह्म में दयालुता आदि कई गुणों का आरोप किया है, उसी प्रकार यहाँ एक आकर्षक गुण के रूप में सौन्दर्य का आरोप है। यों *'राम की बहुरिया'* का अपने *'बहुगुणियाले कंत'* के प्रति रूप की दृष्टि से भी आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। कबीर निहकर्मी पतिव्रता को अंग' में कहते हैं—

---

१. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्ति
दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदना—
सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।

भक्ति

तैनूं रमइया रमि रह्या दूजा कहां समाइ।

कान्तासक्ति

कबीर प्रीतडी तो तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँसि बोलौं और सौं, तौ नील रंगाउँ दंत।

वात्सल्यासक्ति

पिता हमारो बड्ड गोसाईं।
या
बाप राम सुनि बिनती मोरी।
या
कहै कबीर बाप राम राया।
या
हरि जननी मैं बालक तोरा।

तन्मयासक्ति

हँसे न बोलै उनमनी, चंचल मेल्ह्या मारि।
या
गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊं थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‌या बान।

स्मरण करते-करते तन्मय हो जाने में भी इसके दर्शन होते हैं—

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।

परमविरहासक्ति

बहुत दिन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं मन नाहीं विश्राम।
या
आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ।

कबीर की भक्ति की कुछ अन्य विशेषताएँ

प्रपत्ति

प्रपत्ति का अर्थ है पूर्ण आत्म समर्पण या सभी साधनों को छोड़कर परमात्मा की शरण में जाना। मनोवैज्ञानिक रूप से सच्चे अर्थों में शरणागत बनने के लिए जिसकी शरण में जाना हो उसके अनुकूल आचरण उसके प्रतिकूल पथ से दूर रहना इस बात में पूर्ण विश्वास कि वह रक्षा करेगा और करने में समर्थ है तथा अपनी जीवन-नैया हर दृष्टि से उसके हाथ में छोड़ देना आदि बातें अत्यंत आवश्यक हैं। इसी आधार पर वायु पुराण में प्रपत्ति के छः[1] प्रकार दिये गए हैं। वस्तुतः प्रपत्ति का अद्वैतवाद से मेल नहीं खाता, किन्तु भक्ति में इसका बड़ा महत्व है। इसके कारण अपना अहं या अलग व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, और भक्त अपने आराध्य का सभी दृष्टियों से अनुवर्ती हो जाता है। कबीर में भी यह बात मिलती है। उन्होंने मनुष्य के शरणागत होने पर बहुत बल दिया है—

> कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छाड़हु मन के भरमा।
> केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।

प्रपत्ति की पूर्णावस्था पर पहुँचकर ही कबीर ने कहा है—

> ना कुछ किया ना करि सक्या ना करण जोग सरीर।
> जे कुछ किया सु हरि किया तायें भया कबीर कबीर।

भगवान का गुणगान (कीर्तन) तथा आत्म निक्षेप (आत्मनिवेदन) के उदाहरण पहले नवधा भक्ति में आ चुके हैं। प्रपत्ति के अन्य भेदों के उदाहरण ये हैं

अनुकूल करने का संकल्प

> ज्यूँ हरि राखैं त्यूँ रहैं जो देवे सो खाउँ।

---

१ आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा
आत्म निक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः

रतिकूल का वर्जन

माया के सैनिको—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, पर निन्दा, धन, कुसग, कपट आदि—से दूर रहने की बात कवीर ने बार-बार कही है। उदाहरणार्थ—

हरि गुन गाइ बग में दीन्हा।
काम क्रोध दोउ बिसमल कीन्हा।

भगवान् द्वारा रक्षा में विश्वास—

भक्त का भगवान् में विश्वास बहुत आवश्यक है। कबीर ने विश्वास पर बडा बल दिया है। साखिया का एक अलग अग ही 'विश्वास' शीर्षक का है। वे कहते हैं—

मोहि भरोसा इष्ट का बँदा नरकि न जाइ।
या
कबीर तू काहे डरै सिर पर हरि का हाथ।
या
भेर मिटी मुकता भया पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस।

कार्पण्य

कार्पण्य है भगवान् के आग अपन को दीन-हीन समझना। ऊपर के अनेक उदाहरणो (प्रपत्ति, आत्मनिवेदन आदि) में इस प्रकार के भाव आ चुके हैं। विनय के पद भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। कुछ उदाहरण हैं—

माधो कब करिहो दाया।
या
जन कबीर तेरी सरन आयो राखि लेहु भगवान।
या
जिहि घट राम रहे भर पूरि।
ताकी मैं चरननि की धूरि।

निष्कामता

भक्ति की निष्कामता पर कबीर ने बहुत बल दिया है। लगता है कि आज की तरह उस काल में भी पुत्र, धन, यश आदि की प्राप्ति के लिए लोग भक्ति या पूजा किया करते थे। कबीर स्पष्ट कहते हैं—

जब लगि भगति सकामता तब लग निर्फल सेव।
कहे कबीर वे क्यों मिलें निहकामी निज देव।

गुरु

कबीर ज्ञान, भक्ति योग सभी के लिए गुरु का महत्व बहुत अधिक मानते हैं। यों, गुरु का महत्व भारतीय-अभारतीय दोनों ही साधनाओं में पर्याप्त है किन्तु कबीर जितना शायद ही किसी ने गुरु को महत्व दिया हो—

गुरु गोविंद दोउ खड़े काके लागूँ पाँय।
या लागों या गुरु को जिन गोविंद दिया बताय।

या

गुरु गोविंद तो एक है, दूजा यह आकार।

इस प्रकार कबीर की भक्ति ज्ञान और योग से समन्वित है, तथा उसमें प्रपत्ति, निष्कामता, गुरु आदि के अतिरिक्त मन को वश में करना, सांसारिकता एवं विषयों का त्याग, बाह्याडंबर छोड़ भाव के स्तर, सहनशीलता, समाज के उपयुक्त आचरण सत्संग एवं भगवान की कृपा आदि का बड़ा महत्व है। उपर्युक्त सारी बातों को देखने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि बाह्याडंबर या कर्मकांडीय पूजा को यदि छोड़ दें, जिनसे कबीर का सीधा विरोध है, तो उस काल में या किसी भी काल में प्रचलित भक्ति के विविध रूप कबीर में किसी न किसी रूप में मिलेंगे। चाहे वे रूप शास्त्रीय हों या अशास्त्रीय। उदाहरणार्थ ऊपर नौ या ग्यारह भक्ति के भेदों या छः प्रपत्ति के प्रकारों में शास्त्रीय रूप देखा जा चुका है। कबीर ने इन बातों का अध्ययन नहीं किया था। तथ्य यह है कि उनकी भक्ति इतनी व्यापक है, कि, वह सहज ही सर्वग्राहिणी बन गई है।

सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना.।

कबीर के राम

पीछे कबीर के ब्रह्म विषयक विचार देखे जा चुके हैं। यहाँ भी कुछ बातें ली जा सकती हैं। जैसा कि पीछे 'प्रेम भगति' के प्रसग में कहा जा चुका है, यद्यपि उनके और राम के बीच पुत्र, सेवक, मित्र आदि के भी नाते हैं, किन्तु ये अपवादस्वरूप कहीं-कहीं ही मिलते हैं, अधिकाशत. उन्होने राम को पति या प्रियतम के रूप में ही माना है और स्वय उनकी पत्नी बन उनके लिए अपने को विरह में सतप्त दिखलाया है। यह भावना कबीर में इतनी गहरी है, कि, उन्हें कत, प्रियतम आदि प्रचलित सबोधनो से ही उनकी परितृप्ति नही हुई है, अपितु 'ननद के भइया'—

कातौंगी हजरी सूत नणद के भइया की सौं।

तथा 'नणद के वीर'—

अब मोहि ले चलि नणद के वीर अपने देस।

आदि का भी उन्होने प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग कबीर ने लोक से लिए हैं।

कबीर के राम निर्गुण सगुण से परे और अनिर्वचनीय हैं, किन्तु कहीं कहीं उनका सगुण या अवतारी रूप भी दिखाई पड जाता है—

राजा अवरीप के कारणि चक्र सुदरसन जारे।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगत की सरन उबारे।

या

राजन कौन तुम्हारे आवै।
ऐसो भाय विदुर को देख्यो ओहु गरीब मोहि भावै।
हस्ती देख भरम ते भूला, हरि भगवान न जाना।

दादू आदि अन्य निर्गुनिया सतो में भी इस प्रकार की पक्तियाँ हैं। डॉ० बड़थ्वाल का इस प्रसग में यह कहना है कि ये सत अवतारवाद के मूल सौन्दर्य के सामने दृढता के साथ नही खडे हो सके हैं,

बहुत ठीक नहीं लगता। कबीर का व्यक्तित्व ऐसा था कि उनमें इस प्रकार के स्खलन की संभावना नहीं दिखाई पड़ती। ऐसी पंक्तियाँ या तो प्रक्षिप्त हैं, या फिर प्रारम्भ की है, जब इनका पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। इस प्रकार इन पंक्तियों के आधार पर कबीर के इष्टदेव पर सगुणता या अवतार का आरोप उचित नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि अनिर्वचनीय या निर्गुण-सगुण से परे होते हुए भी कबीर ने अपने ब्रह्म को ठोस व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे अपनी भावना के अनुसार संबंध स्थापित किये जा सकते हैं, उन्होंने किये भी हैं। इसी आधार पर कबीर ने सौन्दर्य, दयालुता भक्त-वत्सलता, दुख-भंजनता आदि गुणों से भी उन्हें युक्त माना है, यद्यपि ये सारी बातें व्यावहारिक-सी हैं, उनके दर्शन से इनका विशेष संबंध नहीं है।

८

रहस्यवाद

भारतीय या विदेशी साहित्य में यद्यपि इस वाद के तत्त्व पर्याप्त प्राचीन हैं, यह नामकरण अपेक्षया अत्यन्त अर्वाचीन है। हिन्दी में इस प्रसग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की एक परिभाषा प्राय उद्धृत की जाती है 'चिंतन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है'।[1] उन्होंने जायसी ग्रंथावली में अवश्य कहा है 'अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि-कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के बुद्धि प्रयास या तत्त्व-चिंतन का फल है। वह ज्ञान-क्षेत्र की वस्तु है। जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है, अर्थात् जब उसका संचार भाव-क्षेत्र में होता है, तब उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ का योग मार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृत और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तन्त्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं पर निम्न कोटि के।

उपर्युक्त उद्धरण में शुक्ल जी की दो मान्यताएँ हैं। एक तो यह कि

१ वस्तुत यह परिभाषा शुक्ल जी की न होकर अवस्थी जी की है। गलती से इसे शुक्लजी की कहा गया है।

चिंतन या ज्ञान के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है और दूसरे यह कि उसके दो भेद हैं. एक भावात्मक और दूसरा साधनात्मक।

शुक्ल जी की ये मान्यताएँ कई दशकों से ज्यों-की त्यों विद्यार्थियों, शोधप्रबंध-लेखकों और आलोचकों द्वारा उद्धृत की जाती रही हैं। अन्यथा न होगा, यदि इन पर थोड़ा गहराई से विचार कर लिया जाए।

यह तो मानने में किसी को आपत्ति न होगी कि रहस्यवाद में प्राय माधुर्य भाव होता है। आत्मा-परमात्मा में मधुर सम्बन्ध की कल्पना की जाती है। चाहे उसमें आत्मा प्रियतम हो (जैसे सूफी) या प्रियतमा (संत कवि)। इसके लिए भी कदाचित् किसी प्रमाण या तर्क की आवश्यकता नहीं, कि, मधुर-भाव के या किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के लिए दो का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में जहाँ हम सम्बन्ध की बात करते हैं, वहाँ अनिवार्यत द्वैत भी अंतर्निहित है, क्योंकि सम्बन्ध दो के ही बीच होगा। यदि अद्वैत या एक है तो किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के लिए कोई गुंजाइश नहीं। इस प्रकार रहस्यवाद के लिए—कम से कम यदि वहाँ माधुर्य भाव या मधुर सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो द्वैत का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में यह कहना बिल्कुल ही असंगत है कि चिंतन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना या भाव के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। यों इसमें संदेह नहीं कि कबीर, जायसी आदि सभी रहस्यवादी अंतिम रूप में अद्वैतवादी थे। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रश्न और भी उलझता दृष्टिगत होता है। रहस्यवाद के लिए दो का होना आवश्यक है और वे रहस्यवादी थे, किन्तु अद्वैतवादी भी थ। इसका आशय यह हुआ कि वे द्वैत—अद्वैतवादी थ। बात कुछ ऐसी ही है। 'अद्वैत या अद्वैत की अनुभूति का अर्थ है स्वयं को और ब्रह्म को पूर्णत एक समझना। और जब दोनों को पूर्णत एक समझा गया तो 'विरह' और मिलन जैसी बातों के लिए, जो काव्य में मिलने वाले रहस्यवाद का प्राण है, कोई स्थान नहीं है। आत्मा ने जब यह अनुभव कर लिया कि वही ब्रह्म है तो फिर उसे किस

के विरह में छटपटाना और किससे मिलने को उत्सुक होना। इसी लिए जब हम अद्वैतवाद के ही भाव के क्षेत्र में रहस्यवाद होने की बात करते हैं तो जैसे दक्षिणी और उत्तरीध्रुव को मिलाने की या असम्भव को सम्भव कहने की बात करते हैं। [वस्तुस्थिति यह है कि अद्वैत में विश्वास एक चीज है और उसकी अनुभूति या प्राप्ति दूसरी चीज है। रहस्यवादी का इस बात में विश्वास तो रहता है, कि, अतत. वह ब्रह्म से अभिन्न है, किन्तु यह अभिन्नता आरम्भिक स्थिति में उसकी मात्र आस्था की ही चीज होती है। अपनी आस्था को पाने के लिए वह प्रेम या मधुर सम्बन्ध का सहारा लेता है और अतत उसे पा लेता है। पा लेने पर वह आस्था अनुभूति की चीज हो जाती है। अर्थात् सच्चे अर्थों में रहस्यवाद, द्वैतवाद या दो की स्थिति है, जब आत्मा पति या पत्नी बनकर प्रेयसी या प्रियतम-रूप परमात्मा को प्यार करती है, और उससे मिलना या तादात्म्य चाहती है, तथा अन्त में रहस्यवाद की अतिम स्थिति आती है, जो पूर्ण मिलन, 'बका', 'फना' या 'तादात्म्य' है। यहाँ आकर रहस्यवाद समाप्त हो जाता है। आत्मा सारे रहस्यो को समझ लेती है। उसे इसकी पूर्ण अनुभूति हो जाती है, कि, जिससे मिलने को वह तडपती थी वह उससे भिन्न नही है। और यही से यथार्थ रूप में अद्वैतवाद का प्रारम्भ होता है। अर्थात् रहस्य-वाद जिस क्षण समाप्त होता है, अद्वैतवाद उसी क्षण सच्चे अर्थों में प्रारम्भ होता है। 'आत्मा-ब्रह्म का पूर्ण मिलन' या 'आत्मा में इस बात का निश्चित और अतिम रूप से अनुभवाधारित विश्वास कि यह 'स्वय ब्रह्म है', रहस्यवाद की इति और अद्वैत का अर्थ है। इसीलिए ऊपर कहा गया कि सभी रहस्यवादी अतिम रूप से अद्वैतवादी होते हैं। ब्रह्म, भगवान् या इस अनन्त सृष्टि का सचालक ही हमारे लिए सबसे बड़ा रहस्य है। अनादि काल से मनुष्य इस रहस्य को जानने के लिए उत्सुक है। बुद्धि, हृदय, साधना या तर्क, भाव, योग आदि-इत्यादि अनेकानेक रास्तो से वह इस समस्या के समाधान में व्यस्त है। वस्तुत विश्व का जो कोई भी इस रहस्य को जानने के लिए, चाहे किसी भी पथ

से प्रयत्नशील रहा है, 'रहस्यवादी' है, और उसके प्रयास या अनुभवों की अभिव्यक्ति रहस्यवाद की निधि है। इस व्यापक अर्थ में सत्य के सारे शोधार्थी, चाहे वे दार्शनिक थे या चिंतक, कवि थे या ज्ञानी, रहस्यवादी हैं। इस अर्थ में क्या शंकराचार्य और क्या तुलसीदास, सभी इस संज्ञा के अधिकारी हैं। किन्तु यह इसका व्यापकतम रूप है। प्रायः 'रहस्यवाद' इतने विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त नहीं होता।

हिन्दी में रहस्यवाद का प्रयोग बहुत निश्चित अर्थों में नहीं हुआ है। मनमाने ढंग से लोग उसकी सीमा रेखा बढ़ाते और घटाते रहे हैं—यों इस शब्द के यथार्थ में कोई ऐसी बात नहीं है, जो लोगों को इसका अर्थ घटाने-बढ़ाने से रोक सके। इसलिए किसी भी लेखक ने किसी भी रहस्य जिज्ञासु की तद्विषयक अभिव्यक्ति को, यदि इसमें रखा है, तो उसे अशुद्ध मानने का कोई संगत आधार नहीं है। चाहे वह अभिव्यक्ति काव्य संज्ञा की अधिकारिणी हो या नहीं। यों मेरा अपना विचार यही है कि जब हम काव्य में रहस्यवाद की बात करते हैं, तो शुद्ध वैसी चीज़ों को जिन्हें आचार्य शुक्ल ने योग मार्ग, तंत्र और रसायन का कहकर साधनात्मक रहस्यवाद में रखा है, रहस्यवाद से अलग ही रखें तो शायद अधिक अच्छा हो। हाँ, जिनमें इन की झोंक-मात्र हो उन्हें इनके अंतर्गत मानने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए।

हिन्दी में रहस्यवाद का जो अपेक्षाकृत अधिक स्वीकृत रूप दिखाई पड़ता है उसमें दो बातें प्रमुख हैं। एक तो निर्गुण भक्ति और दूसरे माधुर्य भाव। ये दोनों जहाँ हैं, वहाँ तो रहस्यवाद है ही किन्तु—

आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि।
—कबीर

जैसे छंदों में ये दोनों बातें बिल्कुल ही नहीं है। यहाँ प्रतीकात्मक ढंग से कबीर हठयोग की साधना और उसकी सिद्धि का चित्र खींचते हैं। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के जो दो भेद (भावात्मक और साधनात्मक)

किए है, उनमें प्रथम में माधुर्यभाव वाली रचनाएँ आती हैं, और दूसरे में उपर्युक्त प्रकार की हठयोग आदि समन्वित रचनाएँ। इस दूसरी श्रेणी की रचनाओ को रहस्यवाद में स्थान देना उचित नही। यदि इन्हें इस आधार पर रहस्यवाद में स्थान दें, कि इसके द्वारा रहस्य या ब्रह्म की प्राप्ति होती है, तो फिर ऐसी किसी भी रचना को रहस्यवाद को मानना होगा, जिस में रचयिता कहे कि 'सत्य बोलो, ईमान से रहो, इससे ब्रह्म प्राप्य है', और इस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति के सारे साधनो से सबद्ध भक्ति और योग आदि का सपूर्ण साहित्य इसके अतर्गत आ जाएगा।

• इस प्रकार शुक्ल जी की दूसरी मान्यता भी चित्य है। रहस्यवाद का शुद्ध साधनात्मक भेद कम से कम साहित्य के क्षेत्र में नही किया जा सकता। साधना के स्पर्श से युक्त रचनाएँ तो तथाकथित भावात्मक में ही आ जायेंगी, उनके लिए किसी अलग भेद की आवश्यकता नही। और यदि इस प्रकार के स्पर्शों के आधार पर भेद करने ही हो तो मात्र एक से इतिश्री नही हो जायेगी, इसके अनेकानेक भेद करने होंगे।

इस प्रकार निर्गुण एव मधुरा भक्ति का समन्वित रूप रहस्यवाद है और इन दोनों भक्तियो की समन्वित भावभूमि पर आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध विकास की विभिन्न स्थितियो की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही रहस्यवादी साहित्य है। रहस्यवादी भाव, आकर्षण से प्रारम्भ होकर मिलन में समाप्त हो जाता है।

यों तो आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को अनेक प्रकार के सम्बन्धो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु पति-पत्नी का सम्बन्ध उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इसके प्रमुख कारण दो हैं। एक तो अन्य सम्बन्धो में प्रेम की इतनी तीव्रता नही होती। दूसरे इस प्रेम में अनन्यता होती है। माता पुत्र, पिता पुत्र, स्वामी-सेवक, मित्र-मित्र में इस प्रकार की अनयता सम्भव नही। एक माता म. कई पुत्रो से प्रेम हो सकता है, इसी प्रकार अन्यो में भी। किन्तु पति-पत्नी में दो के अतिरिक्त तीसरे के लिए गुंजाइश नही। इसके अतिरिक्त आकर्षण, प्रेम, विरह, मिलन आदि

कोई स्थितियाँ भी प्रेमी प्रेमिका के प्रेम में अधिक सहज हैं इनका मिलन भी अद्वैतता के अधिक अनुरूप है। इन्हीं कारणों से निर्गुनिया मधुर भक्तों ने इस प्रतीक को अधिक पसन्द किया है।

इस प्रतीक के भी दो रूप मिलते हैं। अरब फारस आदि में आत्मा प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। यह स्वाभाविक भी है। प्रेमी ही प्राय प्रेमिका से मिलने के लिए कष्ट सहते हुए आगे बढ़ता है। यह लैला मजनू, शीरीं-फरहाद आदि की प्रसिद्ध कहानियों से स्पष्ट है। हिन्दी के सूफी कवियों ने इसी परम्परा में आने के कारण इसी को स्वीकार किया।

कबीर दूसरी परम्परा के हैं जहाँ प्रेमी या पति या ब्रह्म है, और पत्नी या प्रेमिका आत्मा। वस्तुत इसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है। यहाँ ब्रह्म पुरुष है। एक पुरुष की अनेक स्त्रियों की तरह आत्माओं को पत्नी माना गया है। इसी रूप में कृष्ण को ब्रह्म और गोपियों को आत्मा कहा गया है तथा उनकी रास आदि का अध्यात्मिक अर्थ लगाया गया है। इस प्रकार कबीर ने भारतीय परम्परा के अनुरूप अपने प्रतीक चुने हैं।

कबीर के रहस्यवाद का प्रारम्भ गुरु से होता है। गुरु ही आत्मा को परमात्मा का परिचय देते हैं। उसके पूर्व आत्मा संसार में लीन है, माया ग्रस्त है अज्ञान में सोयी है। गुरु के संपर्क में आते ही वह जग जाती है। इसी को रहस्यवाद में जागरण की अवस्था कहा गया है। कबीर कहते हैं—

पीछे लागा जाइ था लोक-वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथ।

गुरु ने ही वह ज्ञान का दीपक दिया जिसके प्रकाश में आत्मा आगे बढ़ सकी। उसी के उपदेश से उसे ब्रह्म के बारे में ज्ञान हुआ—

सतगुर साचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया पड्या कलेजै छेक।

उस कांत के अनंत सौंदर्य और दयालुता आदि गुणों के बारे में

आत्मा ने सुना और माता बन गई, उस अज्ञात के प्रेम में डूब गई—

सतगुरु हम सूँ रीझ कर एक कह्या प्रसग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अग।

और यह प्रेम ऊपर तक ही न रहकर भीतर तक प्रविष्ट हो गया—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अतरि भीगी आतमा, हरी भई बनराइ।

यह प्रेम अनन्य था। आत्मा कहती है—

कबीर प्रीतडी तो तुझ सौं बहु गुणियाले कत।
जो हँसि बोलौं और सौं तौ नील रगाऊँ दत।

प्रेम मिलन चाहता है। यहाँ आत्मा ने प्रेम तो किया, किन्तु मिलन कहाँ ? मिलन के लिए तो साधना अपेक्षित है, हृदय की पवित्रता अपेक्षित है। आत्मा ने गुरु से उपदेश लेकर प्रियतम से मिलने के लिए अपने को पवित्र बनाने के लिए साधना प्रारम्भ की। किन्तु माया ने देखा कि आत्मा उसके चगुल से छूटकर ब्रह्म से मिलना चाहती है, अत उसकी ओर से व्यवधान आने लगे। माया के सेनानी—काम, क्रोध, मोह, मद, कपट, धन, सदेह आदि—व्याघात बनकर खड़ हो गए। कबीर कहते हैं—

कबीर माया पापणीं फद लै बैठी हाटि

या

कबीर माया पापणीं हरि सूँ करै हराम

तथा

मुख कडियाली कुमति की कहन न देई राम
जदि बिषै पियारो प्रीति सूँ तब अतरि हरि नाँहि।

या

कबीर माया मोहनी, मोहे जाण-सुजाण।
भागां हीं छूटै नहीं, भरि-भरि मारै बाण।

विरह

माया के इन व्याघातो के कारण आत्मा अज्ञान से बाहर नही निकल

पाती, इस लिए अपने प्रियतम से नहीं मिल पाती। ऐसी स्थिति में उसका विरह में संतप्त होना तथा मिलन के लिए अत्यंत उत्कंठित होना स्वाभाविक है। रहस्यवादी साहित्य में विरह या मिलन—उत्कंठा से सम्बद्ध अभिव्यक्तियाँ साहित्य की दृष्टि से तो आकर्षक, रससिक्त और महत्त्वपूर्ण हैं ही, आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से भी उसका बड़ा महत्व है। सूफियों में भी विरह को बड़ा महत्व दिया गया है। कबीर विरह के सम्बन्ध में कहते हैं—

> बिरहा बुरहा मन कहो, बिरहा है सुलितान।
> जा घट बिरह न संचरै, ता घट जान मसान।

बिरह ब्रह्म से मिलाने में बड़ा सहायक है। उसकी आग में तप कर आत्मा शुद्ध हो जाती है, और इस प्रकार वह मिलन के योग्य हो जाती है। कबीर के शब्दों में विरह कहता है—

> बिरह कहै कबीर सौं, तू जनि छाड़ै मोहि।
> पारब्रह्म के तेज में तहाँ लै राखौं तोहि।

यों यह कुछ अस्वाभाविक सा लगता है कि एक पुरुष अपने को स्त्री मानकर ब्रह्म के विरह में छटपटाए, किन्तु कबीर ने इस विरह को इतनी गहराई और सच्चाई से अनुभूत किया है, कि, उनका रुदन ऊहात्मक न होकर बड़ा ही हृदय स्पर्शी और प्रभविष्णु है। कबीर के ये विरह-सभूत छन्द काव्यत्व की दृष्टि से भी बडे सुन्दर बन पड़े हैं। इन्हें कुछ विस्तार से देखा जा सकता है।

कबीर के विरह के छद 'विरह कौ अंग' 'ग्यान विरह कौ अंग' तथा कुछ अन्य अंगों एवं पदों आदि में बिखरे पडे हैं। कवि को अपने विरह की घड़ियों में समान-धर्मी चकवी के विरह का स्मरण हो आता है। चकवी भी रात में अपने प्रियतम से बिछुड जाती है। लेकिन उसका विरह तो बहुत छोटा है, केवल रात भर का जब कि आत्मा का, विरह उससे बहुत लम्बा है—

> चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।

जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ।

अवस्थाएँ तीन होती हैं । जागृतावस्था, सुषुप्तावस्था और स्वप्नावस्था । विरह से नायिका का हृदय इतना संतप्त है कि उसे किसी में भी चैन नहीं । कबीर दिन को प्रथम अवस्था का, एवं रात को दूसरी का प्रतीक मानते हुए कहते हैं—

बासुरि सुख नां रैंणि सुख ना सुख, सुपिनैं माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूं नां सुख धूप न छाँह ।

आत्मा परमात्मा के लिए तड़पती है—

बाल्हा आव हमारे गेहरे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकों इहै अदेह रे ।
एक में एक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे ।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बिन धरै न धीर रे ।
ज्यूं कामी कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे को नीर रे ।
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सौं कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिन देखे जिव जाइ रे ।

यहाँ विरह की तीव्रता अपनी पराकाष्ठा पर है । इसी प्रकार—

बेध्यो जीव बिरह के भाले, राति दिवस मेरे उर सालै ।
को जानैं मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा

× × × ×

निस बासुरि मोहिं चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले राम राई ।
कहत कबीर हमकौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ।

मीराँ आदि अन्य प्रेमियों ने भी कहा है कि विरह की पीडा केवल वही जान सकता है, जिसने कभी भोगा हो । कबीर भी उसी स्वर में कहते हैं कि प्रसूत-पीडा को बाँझ नहीं जान सकती । विरह की पीडा या तो वह जान सकता है जिसने दिया हो, या फिर जो इससे संतप्त हो, कोई तीसरा नहीं ।

बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा ।

उपजी ना फटु समझि न परई, बाँझ न जाने पीरा।
या बड़ बिथा सोई भल जानैं, राम विरह सर मारी।
कै सो जानैं जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहा री।
× × × ×
दीन भई बूझै सखियन कौं कोइ मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचु पावै।

इस प्रकार के अनेक छदो में कबीर की मानसिक विकलता बडे सहज ढग से फूट पडी है। उसमें कला नही है, यह स्वत स्फूर्त है, जैसे कबीर अपने को रोक नही सके है और उनके विरह के अश्रु ही छद बन गए हैं—

नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपिहा ज्यूं पिव पिव करौं कबरु मिलहुगे राम।

विरह के शारीरिक प्रभाव के भी चित्र कबीर में हैं, यद्यपि अधिक नही है—

अषडियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणें दुखडियाँ।
साईं अपणे कारणें रोइ - रोइ रतडियाँ।

या

अषडिया झाईं पडया, पथ निहारि निहारि।
जीभडिया छाला पडया, राम पुकारि पुकारि।

रोते रोते, दशन के लिए प्रार्थना करते-करते विरहिणी आत्मा थक जाती है किन्तु कोई फल नही होता। उसे लगता है कि अब उसके प्रियतम नही मिलेंगे। ऐसी स्थिति में जीवन व्यर्थ है किन्तु मर कर ही वह क्या करेगी? उसकी इच्छा तो किसी भी प्रकार प्रियतम के दर्शन की है, वह उनका स्पर्श करना चाहती है। उनका नही तो, उनकी कोई वस्तु ही उसका स्पर्श करले। वह कामना करती है—

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यों धूवाँ जाइ सरगि।
मति वे राम दया करैं, बरस बुझावैं अगि।

उसकी राख भी यदि प्रियतम के जल का स्पर्श कर सकी, तो वह

अपने को धन्य समझेगी, उसके हृदय की आग बुझ जायेगी।

किन्तु, इतने में उसे याद आती है कि प्रियतम को किस ने हँसकर पाया है, जिस किसी ने भी पाया है रो-रोकर—

हँसि-हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हाँसे ही हरि मिले, तौ नहीं दुहागिनि कोइ।

यह सोचते ही उसे विरह और विरह जनित सारे दुख प्यारे लगने लगते हैं। प्रियतम ने ही तो यह विरह दिया है, फिर यह क्या कि उनसे प्रेम और उनकी दी हुई वस्तु से घृणा और ऊब। नही, उसे यह विरह भी प्रिय है। वह अब विरह का और उससे उत्पन्न कष्टों का स्वागत करती है—

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव।

वह अपने को जलाकर भी प्रियतम के दर्शन के लिए तैयार है—

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लौहौ सींचौं तेल ज्यूं, कब देखौं मुख पीव।

प्रियतम रात में आयेगा किन्तु सामान्य दीपक का क्या काम? वह स्वयं दीपक बनकर जलेगी! अपने को जलाकर उसकी प्रतीक्षा करेगी।

कबीर के विरह के छंद हिन्दी की इस विषय की रचनाओं में बहुत मूर्द्धन्य स्थान रखते हैं। जायसी में भी विरह बड़ा हृदयस्पर्शी है, किन्तु उसका प्रमुख कारण है, उसका कथा के बीच में आना। शुद्ध भावों की दृष्टि से उस में अतिशयोक्ति और ऊहात्मकता अधिक है। कबीर के विरह में तीव्रता तो उतनी ही है, किन्तु ये दोनो दोष प्राय नही के बराबर हैं।

विरह के प्रसंग में विरह की दस-ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख अपनी साहित्यिक परम्परा में मिलता है। कबीर ने साहित्यिक दृष्टि से तो कुछ कहा नहीं, किन्तु उनका विरह उनकी भक्ति की तरह ही इतना व्यापक है कि ये अवस्थाएँ सहज ही इनमें आ गई हैं।

मिलन

दुख के पौधे में सुख का फूल खिलता है और विरह के पौधे में मिलन का। आत्मा की इतनी साधना, उसकी इतनी तड़पन व्यर्थ नहीं जा सकता। कबीर अपने प्रियतम से मिलते हैं। प्रियतम की दिव्य ज्योति अनिर्वचनीय है। कबीर ने 'परचा का अंग' में तथा अन्यत्र भी उसका परिचय दिया है—

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।

कांता को कांत मिल गए इतने दुःख के बाद। निश्चय ही मंगलाचार का अवसर है—

दुलहनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।

कांता को भय है कि आकर भी उसके कांत कहीं चले न जाएँ। वह स्पष्ट कहती है, अब न जान दूँगी! जैसे भी हो अब मेरे बन कर रहो! वह उसके चरणों को पकड़ लेता है—

अब तोहिं जान न देहूँ राम पियारे।
ज्यूँ भावें त्यूँ होइ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।

मिलन प्रणय रात्रि में बदल जाता है—

बहुत दिनन थें म प्रीतम पाए, भाग बडे घर बैठ आए।
मंगलाचार माहिं मन राखौं, राम रसाइन रसना चाखौं।
मंदिर माहिं भया उजियारा ले सूती अपना पिव पियारा।

मिलन का वर्णन जायसी में भी है पर उसमें अश्लीलता आ गई है कबीर का मिलन पूर्ण संयत है। जायसी के वर्णन में पाठक का ध्यान आध्यात्मिकता से तो हट ही जाता है, उसे कहीं-कहीं साहित्यिक अभिरुचि के भी नीचे आना पड़ता है किन्तु कबीर में पूर्णतः संतुलन है।

आत्मा का परमात्मा से मिलन होते ही उसके लिए रहस्य हस्तामलक हो गया, परम सत्य अनुभूत हो गया—

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, तायें सदा हजूरि।

उसे अद्वैत स्थिति की, अब जाकर प्राप्ति हुई, और उसके स्वयं रहस्य बन जाने से रहस्यवादी स्थिति की समाप्ति हो गई—

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय।
बूँद समानी समुद में सो कत हेरी जाय।

'लाल' की असीम 'लाली' की प्रत्यक्ष अनुभूति से लाल होकर आत्मा भी 'लाल' बन गई—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।

× × ×

सेन, अण्डरहिल आदि ने रहस्यवाद की कुछ अवस्थाएँ मानी है। मनोवैज्ञानिक विकास के आधार पर इस प्रकार की अनेक अवस्थाएँ मानी जा सकती है, जिन में जागरण, प्रारम्भिक परिचय, आकर्षण, प्रेम, विरह, परिष्करण, विघ्न, मिलन ये आठ प्रमुख हैं। कबीर में ये सभी है। सासारिक व्यक्ति अज्ञान से जग कर पहले इधर अभिमुख होता है। कबीर गुरु के कारण उठते हैं (आगे ते सतगुरु मिल्या दीपक दिया हाथ)। उन्हें जगा देख गुरु ही उन्हें उस सत्ता का प्रारम्भिक परिचय देता है (लोचन अनत उघाडिया अनत दिखावन हार)। पूर्ण परिचय तो बताने की चीज नहीं, अनुभूति करने की है, जो मिलन के बाद सम्भव है। आरम्भिक परिचय के कारण ही ब्रह्म की ओर आकर्षण बढता है और गुरु द्वारा निर्देशित ढग से कबीर आगे बढते हैं (सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर)। उनका हृदय परमात्मा के प्रति प्रेम से अभिभूत हो जाता है (कबीर प्रीतडी तो तुझ सौं), किन्तु मिलन न होने से वे विरहाकुल हो जाते हैं (विरह भुवगम तन बसै मत्र न लागै कोइ)।

अंत में अपने को माया-मोह से दूर करके, कबीर अपने को परिष्कृत करते हैं और रास्ते के विघ्नों को पार करते हुए मिल जाते हैं।

वस्तुत इन में परिष्करण और विघ्न की स्थिति को जैसा कि लोगों ने माना है किसी एक जगह मानना ठीक नही। जागरण से लेकर मिलन तक ये दोनो बातें रहती हैं। जीव अपना परिष्कार जागरण के क्षण से ही करने लगता है और उसके पथ में काँटे आते जाते हैं। धीरे धीरे परिष्कार बढ़ता जाता है और विघ्न कम होते जाते हैं और अन्त में पूर्ण परिष्कृत हो जाने पर सारे विघ्न समाप्त हो जाते हैं और मिलन हो जाता है।

×　　　　　×　　　　　×

कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलना करते हुए आचार्य शुक्ल तथा प० चन्द्रवली पाडेय आदि ने कबीर के रहस्यवाद को सूखा तथा प्रकृति के विविध चित्रो के माधुर्य से रहित कहा है। वस्तुत साहित्य में इस प्रकार की तुलना का विशेष अर्थ नही है। यह सरसता-नीरसता प्रबन्ध और मुक्तक के कारण ही प्राय मिलती है। यो दोनो में कुछ अंतर स्पष्ट हैं जायसी के लिए आत्मा प्रेमी है तो परमात्मा प्रेमिका, किन्तु कबीर में बात उल्टी है। जायसी के विरह मिलन में अतिशयोक्ति, ऊहात्मकता और अश्लीलता की पर्याप्त गध है, किन्तु कबीर का प्राय सयत और अपने गौरव के अनुकूल है। एक न मुक्तक ढग से उसकी अभिव्यक्ति की है तो दूसरे ने प्रबन्ध के द्वारा। किन्तु जहाँ तक रहस्यवाद के प्राण 'प्रेम' और 'प्रेम की पीर' या विरह का प्रश्न है तन्मयता, तीव्रता प्रभविष्णुता आदि की दृष्टि से दोनो ही स्तुत्य हैं दोनो के अपने-अपने ढग के अप्रतिम सौंदर्य हैं। कुछ भाव दोनो में मिलते-जुलते भी हैं। उदाहरणार्थ—

सब रग तत रबाव तन, विरह बजावै नित्त।

हाड भये सब किंगरी, नसैं भईं सब तांति ।
रोंव रोंव सों धुनि उठै कहौं बिथा केहि भाँति ।

—कबीर

इस प्रकार के स्थलों पर कबीर सूफियों से प्रभावित हैं।
निष्कर्ष दोनों में ही रहस्यवाद अपने अपने ढंग से सुंदर है।

६

धार्मिक, आचारिक और सामाजिक विचार

✓ कबीर एक युगद्रष्टा थ। उनका दृष्टि समग्र जीवन पर थी और जीवन समाज का एक अग है इसी लिए उसे भी वे अपनी दृष्टि से ओझल नही कर सके। इसके अतिरिक्त उनका युग व्यक्तिवादी दृष्टि कोण का था। सामाजिकता उस समय थी नहीं। धम आदि की दृष्टि से जो अपने उत्थान में लगे थ उनका समाज से जैसे कोई सम्बध ही नही था। उन्हें केवल अपना ध्यान था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भी कबीर का ध्यान व्यष्टि के साथ समष्टि पर गया और एक की उन्नति दूसरे के बिना उन्हें असम्भव दिखाई पडी। फलत उन्होंन व्यष्टि और समष्टि को मिलान की चष्टा की। और मानव समष्टि ही नही अपितु अहिंसा दया तथा जबह का विरोध आदि के द्वारा उन्होन जीव मात्र को इस परिधि में लिया।

यो तो कबीर जो सोचते उसी को कहन और करन में विश्वास रखते ही थ किन्तु इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण भी यह आवश्यक था कि चिन्तन की सारी धाराए एक दूसरी के अनुरूप हो। इसी कारण कबीर के दशन उनकी भक्ति उनके धम और उनके आचारिक एव सामाजिक विचारो को हम पूणतया सुसबद्ध पाते ह। हर दो किसी पन्न के दो पष्ठ की तरह ह जिन्हें किसी भी प्रकार अलग नही किया जा सकता। पीछ भक्ति के प्रसग में तथा अयत्र भी कुछ बातें कही जा

चुकी हैं। यहाँ उन सभी को संक्षेप में एक साथ देखा जा सकता है।

समत्व

कबीर एक दार्शनिक के रूप में अद्वैतवादी थे। इसका आशय यह है कि विश्व में उनके लिए केवल एक सत्ता थी, और वही घट-घट में व्याप्त थी—'अबरन एक अकल अविनासी घट-घट आय रहे'। ऐसी स्थिति में उनको सभी को समान समझना भी स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उनके लिए न कोई ऊँचा था और न कोई नीचा।

ऊँच नीच समसरिया, तार्यं जन कबीर निसतरिया

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण-भेद भी उनके लिए निरर्थक था।

एक ज्योति से सब उतपना कौन ब्राह्मन कौन सूदा।

वे स्पष्ट कहते हैं कि यदि ब्राह्मण को ऊँचा होना था तो किसी और रास्ते वह से आया होता। उसकी धमनियों में खून की जगह दूध बहता, ताकि उसे सभी बड़ा मान लें। हिन्दू-मुसलमान आदि विभिन्न धर्म भी उनके लिए अनर्गल थे।

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई।

इसी प्रकार सारी जातियों और सारे सम्प्रदायों के लोग एक हैं। कबीर का, सभी के एक या समान होने में अटूट विश्वास था। आज मानव की मौलिक एकता की आवाज विश्व के कोने-कोने से आ रही है। कबीर ने उसे कई सदियों पूर्व देखा था और देखा ही नहीं था, उसके अनुरूप आचरण भी किया था और समाज को भी तदनुरूप चलने को प्रेरित किया था।

समन्वय

इतनी विराट् चिन्तना की भाव-भूमि पर विचरण करने वाले कबीर में समन्वयवादिता का होना भी अवश्यंभावी था। कबीर सारग्राही थे। वह हंस, जो मोती कहीं से भी चुन सकता है—

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।

६

धार्मिक, आचारिक और सामाजिक विचार

✓ कबीर एक युगद्रष्टा थे। उनकी दृष्टि समग्र जीवन पर थी और जीवन समाज का एक अंग है, इसी लिए उसे भी वे अपनी दृष्टि से ओझल नही कर सके। इसके अतिरिक्त उनका युग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का था। सामाजिकता उस समय थी नही। धर्म आदि की दृष्टि से जो अपने उत्थान में लगे थे उनका समाज से जैसे कोई सम्बन्ध ही नही था। उन्हें केवल अपना ध्यान था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भी कबीर का ध्यान व्यष्टि के साथ समष्टि पर गया और एक की उन्नति, दूसरे के बिना उन्हें असम्भव दिखाई पडी। फलत उन्होंने व्यष्टि और समष्टि को मिलाने की चेष्टा की। और मानव समष्टि ही नही, अपितु अहिंसा दया, तथा 'जबह्' का विरोध, आदि के द्वारा उन्होंने जीव मात्र को इस परिधि में लिया।

यो तो कबीर 'जो सोचते उसी को कहने और करने में विश्वास रखते ही थे, किन्तु इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण भी यह आवश्यक था, कि, चिन्तन की सारी धाराएँ एक दूसरी के अनुरूप हो। इसी कारण कबीर के दर्शन, उनकी भक्ति, उनके धर्म और उनके आचारिक एव सामाजिक विचारो को हम पूर्णतया सुसबद्ध पाते है। हर दो, किसी पन्ने के दो पृष्ठ की तरह है, जिन्हें किसी भी प्रकार अलग नही किया जा सकता। पीछे भक्ति के प्रसग में तथा अन्यत्र भी कुछ बातें कही ज

साधत थे और योगी थे, भक्ति करते थे और भक्त थे, ज्ञान को आवश्यक मानते थे और ज्ञानी थे ।

योग—आसन पवन किये दृढ रे, मन को मैल छाँडि दे बौरे ।
भक्ति—भाव - भगति विश्वास बिन कटै न संसै मूल ।
ज्ञान—जिहि कुल पूत न ज्ञान बिचारी ।
बिधवा कसि न भई महतारी ।

या

जहाँ ज्ञान तहाँ धर्म है,

कबीर का मध्यम मार्ग भी एक प्रकार से दो अतियों या सीमाओं का समन्वय ही है जिसमें सुख-दुख निवृत्ति प्रवृत्ति भोजन भूख आदि की सीमाओं को छोड बीच में चलने का आदेश दिया गया है। इसी प्रकार उन्होंने हर धर्म से अच्छी बातों को ग्रहण कर उनका भी समन्वय किया। सभी धर्मों की उन मूल बातों के समन्वय पर ही कबीर का धर्म आधारित है।

समन्वय के सिलसिले में अंतिम उल्लेख कथनी और करनी का किया जा सकता है। कबीर दोनों का ऐक्य चाहते थे। यह नहीं कि कहें कुछ और करें कुछ और —

कथणी कथी तौ क्या भया जे करणीं ना ठहराइ

या

जैसी मुख तैं नीकसै तैसी चालै चाल।

धर्माडम्बरों तथा अंधविश्वासों के आलोचक तथा समाज सुधारक

ऊपर संकेत किया गया है कि कबीर का धर्म समाज सापेक्ष था। वे व्यष्टिवादी से अधिक समष्टिवादी थे। इस विराट प्रतिभा की अंतर्दृष्टि जितनी खुली हुई थी बाह्य दृष्टि भी उससे कम जागरूक न थी। उन्होंने यह आँख खोलकर देखा था कि समाज रूढियों परम्पराओं धर्माडम्बरों तथा अंधविश्वासों की निर्मम चक्की में पिस रहा है उसकी आत्मा इनकी कारा में बंदिनी है। परिणाम यह हुआ कि इस विद्रोही न

बगुला मेंश न जाणई, हस चुणे चुण खाइ ।

इस प्रकार विभिन्न विरोधी मत-मतान्तरो से उन्होने अपने विचार और व्यवहार के लिए सामग्री ली, और उनमें उचित समन्वय स्थापित किया । 'सूप सभाय' वाले कबीर ने हर सभव कोने को देखा और 'थोथ उडाकर 'सार-सार' को 'गह' लिया। फिर सार तो सत्य है, और सत्य में असमन्वय क्यो ? पीछे प्रभाव के प्रसग में देखा जा चुका है, कि उन्होंने अनेक स्थानो से अपनी ईंटें ली और फिर उनके समन्वय से इतना विशाल भवन खडा किया, कि, सब को गुरु मानने वाला, सबका गुरु बन बैठा ।

(कबीर के समन्वय में, सब से अधिक उल्लेख्य समन्वय निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग का है । इसे परलोक और लोक धर्म और व्यवहार, या सन्यासी और गृहस्थ का समन्वय भी कहा जा सकता है । उनके काल में हमारा समाज इस आधार पर भी लगभग दो भागो में विभाजित हो गया था । साधु-सन्त-सन्यासी आदि आध्यात्मिक साधना में लीन थे, तो उनसे ससार से कोई सम्बन्ध न था और गृहस्थ लोक-व्यवस्था में लीन थे, तो उनसे सच्चे अर्थों में आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध न था । कबीर ने इस दरार को देखा, और दोनो को समन्वित करके, अर्थ धर्म, काम, मोक्ष को समन्वित कर दिया । वे यह नही चाहते थे कि ईश्वर के साधक काम न करें और भीख मार्गें । वे कर्म करते हुए धर्म या भक्ति आदि करने के पक्षपाती थे—)

कबीर जे धन्धै तौ धूलि, बिन धन्धैं धूलै नहीं ।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धन्धै में ध्याया नहीं ।

बिना 'धन्धा' या काम के मनुष्य पवित्र नही होता किन्तु, जो केवल 'धन्धा' ही करता है वह समूल नष्ट हो जाता है ।

यह था प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय । निवृत्ति मार्ग में भी भक्ति, ज्ञान और योग की तीन प्राय अलग-अलग धाराएँ थी । कबीर ने इन तीनों को भी समन्वित किया और स्वय तीनो को अपनाया । वे हठयोग

साधते थे और योगी थे, भक्ति करते थे और भक्त थे, ज्ञान को आवश्यक मानते थे और ज्ञानी थे ।

योग—आसन पवन किये दृढ़ रे, मन को मैल छाँडि दे बौरे ।
भक्ति—भाव - भगति विश्वास बिन कटै न संसे मूल ।
ज्ञान—जिहि कुल पूत न ज्ञान बिचारी ।
विधवा कसि न भई महतारी ।

या

जहाँ ज्ञान तहाँ धर्म है,

कबीर का मध्यम मार्ग भी एक प्रकार से दो अतियों या सीमाओं का समन्वय ही है, जिसमें सुख-दुख, निवृत्ति, प्रवृत्ति भोजन भूख आदि की सीमाओं को छोड़ बीच में चलन का आदेश दिया गया है । इसी प्रकार उन्होंने हर धर्म से अच्छी बातों को ग्रहण कर उनका भी समन्वय किया। सभी धर्मों की उन मूल बातों के समन्वय पर ही कबीर का धर्म आधारित है।

समन्वय के सिलसिले में अंतिम उल्लेख कथनी और करनी का किया जा सकता है । कबीर दोनों का ऐक्य चाहते थे। यह नहीं कि कहें कुछ और, करें कुछ और —

कथणी कथी तो क्या भया जे करणीं ना ठहराइ

या

जैसी मुख तें नीकसै तैसी चालै चाल ।

धर्माडम्बरों तथा अंधविश्वासों के आलोचक तथा समाज-सुधारक

ऊपर संकेत किया गया है कि कबीर का धर्म समाज-सापेक्ष था । वे व्यष्टिवादी से अधिक समष्टिवादी थ । इस विराट प्रतिभा की अंतर्दृष्टि जितनी खुली हुई थी, बाह्य दृष्टि भी उससे कम जागरूक न थी । उन्होंने यह आँख खोलकर देखा था, कि समाज रूढ़ियों, परम्पराओं, धर्माडम्बरों तथा अंधविश्वासों की निर्मम चक्की में पिस रहा है, उसकी आत्मा इनकी कारा में बंदिनी है । परिणाम यह हुआ कि इस विद्रोही ने

इनको चुनौती दी और समाज को ललकारा—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ।

उसे पता था कि—

एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।

कबीर की ऐसी मान्यता थी कि समाज के योग्य लोगों का कर्तव्य है, अयोग्यों को जगाना। वे इसे भगवान् की आज्ञा मानते थे—

मोहि आग्यां दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ।
कहि कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ अब मोहि दोस न लाइ।

पहले हिन्दुओं से सबद्ध बातों को लिया जा रहा है। कबीर के समय में हिन्दुओं में अनेक मत मतान्तरों तथा उपासना-पद्धतियों का प्रचार था। इन उपासना-पद्धतियों में भी लोग यथार्थ को भूल गए थे, और केवल बाह्य अनुष्ठानों आदि को ही उपासना की आत्मा मान बैठे थे। कबीर ने इस हाल का बहुत अच्छा चित्र अपने एक छंद में खींचा है—

इक जंगम इक जटाधार। इक अंग बिभूति करैं अपार।
इक मुनियर इक मनहूं लीन। ऐसे होत होत ह्वै जाहिं खीन।
इक आराधैं सकति सीव। इक परदा दे दे बधे जीव।
इक कुल देव्यां को जपहिं जाप। त्रिभुवन पति भूलें त्रिविध ताप।
इक पढ़हिं पाठ, इक भ्रमहिं उदास। इक नगन निरंतर रहैं निवास।
इक जोग-जुगति तन हूहि खीन। ऐसो रामनाम संग रहैं न लीन।
इक हूहि दीन, इक देहिं दान। इक करैं कपाली सुरापान।
इक तंत्र मंत्र ओषधि बान। इक सकल सिद्ध राखैं अपान।
इक तीर्थ व्रत करि काया जीत। ऐसे रामनाम से करैं न प्रीत।
इक धूम घोटि तन हूहिं स्याम। यूं मुकित नहीं बिन रामनाम।
पंडित जन माते पढ़ि पुरान। जोगी माते धरि धरि धियान।
सन्यासी माते अहंमेव। तपा जु माते तप के भेव।
सब मदमाते कोऊ न जाग। संग ही चोर घर मूसन लाग।

साधु-संन्यासियों की साधना बाल मुडाने, बाल बढ़ाने, गेरुआ वस्त्र पहनने या नग्न रहने आदि तक सीमित थी। कबीर व्यंग्य करते हैं—

(क) केसौं कहा बिगाड़िया जो मूड़े सौ बार।
मन को काहे न मूँड़िये जामें विषै विकार।

(ख) नगन फिरत जो पाइअ जोगु।
बन का मिरगा मुकति सभु होगु।

(ग) मन ना रँगायो रँगायो जोगी कपड़ा।
दाढ़ी मूछ बढ़ाय जोगी बन गयो बन को बकरा।

कुछ लोग केवल ब्रह्मचर्य को ही सब कुछ मानते थे और मात्र उसी के आधार पर मुक्ति-प्राप्ति की आशा रखते थे। कबीर कहते हैं —

बिन्दु राखे जो तरी ऐ भाई।
खुसरै किउ न परम गति पाई।

कुछ लोग छापा-तिलक को ही सर्वस्व मान बैठे थे—

बैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं बबेक।
छापा तिलक बनाइ करि दग्ध्या लोग अनेक।

शाक्त

उस समय हिन्दुओं में प्रमुखत शाक्त, शैव और वैष्णव तीन प्रकार के लोग थे। इनमें वैष्णव अपेक्षाकृत अच्छे थे। कबीर ने कुछ थोडे-से दोषों को छोडकर प्राय उनको अच्छा कहा है—

बैस्नों की छपरी भली ना साकत बड़ गाँव।

शाक्त सबसे अधिक पतित हो गए थे। मास, मद्य आदि पच मकारो का उनकी उपासना-पद्धति में महत्वपूर्ण स्थान था। इसीलिए कबीर ने उनको बहुत भला-बुरा कहा है। कुछ उदाहरण हैं—

(क) साकत ते सूकर भला, सूचा राखे गाव।

(ख) साकत बाँभण मत मिले, बैस्नो मिले चण्डाल।

(ग) पापी पूजा बैसि करि भाखे मास मद दोइ।

(घ) साकत संगु न कीजिए, दूरहि जइये भागु।

यासन फारो परसिये, तउ कछु लागे दागु ।

✓ **मूर्ति**

अशिक्षा तथा उचित शास्त्र-ज्ञान के अभाव में हिन्दुओं ने मूर्ति को ही भगवान् मान लिया था। उनकी पूजा में ही लोग धर्म की इतिश्री मान लेते थे। कबीर ने इसका भी तरह-तरह से विरोध किया।

(क) पांहण केरा पूतला, करि पूजें करतार।
इही भरोसे जे रहे ते बूडे काली धार।

(ख) पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।

छुआछूत

छुआछूत हिन्दू समाज का एक पुराना कोढ है। कबीर के समय में यह अपनी पराकाष्ठा पर था कबीर ने एक का विरोध किया। उनका कहना था कि जो ज्ञानी हैं उन्हें छुत नहीं लगती। छूत मानने वालो की हँसी उड़ाते हुए कबीर कहते है —

(क) पंडित देखहु मनमहँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।

(ख) जल है सूतक, थल है सूतक, सूतक ओपनि होई।
जिनमें सूतक मूए सूतक, फुनि सूतक-सूतक, परज बिगोई।
कहु रे पंडिआ कउन पवीता।

(ग) कहु कबीर रामु रिदे बिचारै सूतक तिन्हे न होई।

श्राद्ध

श्राद्ध आदि की भी कबीर ने आलोचना की। पुत्र पिता से जीते जी तो बात तक न पूछे और मरने पर श्राद्ध करे या पिंड दान दे। सचमुच ही पिता के प्रति पुत्र के प्रेम की यह विडम्बना है! कबीर कहते हैं—

जीवत पित्र कूँ बोले अपराध।
मूवाँ पीछें देहि सराध।
कहि कबीर मोहि अचरज आवे।
कउवा खाय पित्र क्यों पावे।

संध्या-गायत्री आदि

इसी प्रकार सन्ध्या, गायत्री, तर्पण आदि में भी कबीर विरोधी थे। धर्म के इन बाह्यांगों को लोग धर्म की आत्मा मान बैठे थे।

(क) संधिआ प्रात इस्नानु कराहीं।
जिउ भए दादुर पानी माहीं।

(ख) सन्ध्या तरपन अरु षट करमां। लागि रहे इनके आसरमां।
गायत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछो जाइ मुकुति किनि पाई।

तीर्थ स्थान

इसकी भी यही स्थिति थी—

(क) लउकी अठसठि तीरथ न्हाई। कउरापनु तऊ न जाई।

(ख) जल कै मज्जनि जे गति होई, नित-नित मेंडुक न्हावहि।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर, फिर फिर जोनी आवहि।

माला

इसके सम्बन्ध में कबीर कहते हैं—

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुँह माँहि।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाँहि।

आज भी माला फेरने वालों की प्रायः यही स्थिति दृष्टिगत होती है। कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

माला पहिरयाँ कुछ नहीं, गाँठ हिरदा की खोइ।

जप-तप

आडम्बरपूर्ण जप-तप के सम्बन्ध में भी उनके ऐसे ही विचार हैं—

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवैं सेंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास।

इस प्रकार हिन्दू समाज के जिस जिस क्षेत्र में धर्माडम्बर प्रचलित था, कबीर ने उसका विरोध किया और लोगों को उन्हें छोड़ धर्म के यथार्थ स्वरूप को पहचानने तथा तदनुरूप आचरण करने पर बल दिया।

कबीर मुसलमान समाज के आडम्बरों के भी उतने ही विरोधी

थे। उसी स्वर में उन्होंने सुन्नत, हज्ज, काबा, अजान, कुर्बानी ताजियेदारी आदि की खिल्ली उड़ाई है। कुछ उदाहरण हैं—

सुन्नत

सुन्नति किये तुरक जो होइगा औरत का क्या करियें।
अर्द्ध सरीरी नारि न छोड़ें, ताते हिन्दू ही रहियें।

हज्ज-काबा

सेख-सबूरी बाहिरा क्या हज काबे जाइ।
जाका दिल साबत नहीं, ताको कहां खुदाई।

अजान

(क) मुल्ला मुनारे क्या चढ़हि सांइ न बहरा होइ।
जा कारन तू बांग देहि दिल ही भीतर सोइ।

(ख) कांकर पाथर जोरि कर मस्जिद लया चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।

कुरबानी और हलाल

(क) गफिल गरब करें अधिकाई। स्वारथ अरथि बधें ए गाई।

(ख) जाको दूध धाइ करि पीजे। ता माता को बध क्यों कीजे।

(ग) पकरि जीउ आनिआ देह बिनासी, माटी कहु बिसमिल कीआ।
जोति सरूप अनाहत लागी, कहु हलाल किउ कीआ।

उपर्युक्त बातें हिन्दू और मुसलमानों के लिए अलग-अलग कही गईं। कबीर में बहुत सी बातें ऐसी भी हैं, जो दोनों ही के लिए या सामान्य रूप से मानव-मात्र के लिए हैं। उदाहरणार्थ—

गुरु-शिष्य

ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दून्यू बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव।

अथवा

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अन्धें अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पड़न्त।

सकाम भक्ति

उस समय भक्ति या देवी-देवताओं, पीर-दरगाहों आदि की मनौती लोग धन, पुत्र विजय, स्त्री आदि के लिए किया करते थे। कबीर ऐसी सकाम भक्ति को व्यर्थ मानते थे। वे कहते हैं—

> जब लगि भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव।
> कहै कबीर वे क्यूं मिलै, निहकामी निज देव।

दिल गंदा और मुँह पर ज्ञान

> हृदे कपट मुख गियानी। झूठे कहा बिलोव सिपानी।

सामान्य रूप से या मानव मात्र के लिए कही गई ऐसी सामाजिक आचारिक तथा धार्मिक बातें दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जिनका उन्होंने विरोध किया है। इसमें उपर्युक्त के अतिरिक्त परनिन्दा, असत्य, वासना, धन लोभ, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, कपट तथा मद्यपान आदि हैं। दूसरी वे हैं जिन्हें अपनाने पर कबीर ने बल दिया है। इनमें सहिष्णुता, अहिंसा, दया, दान, धैर्य, सतोष, क्षमा विश्वास, समदर्शिता, परोपकार तथा मीठे वचन आदि प्रमुख हैं। स्पष्ट ही ये बातें एसी हैं जो भक्ति में साधक तो हैं ही, साथ ही व्यक्ति और अतत समाज या विश्व को उठाने वाली हैं। यहाँ इनमें से कुछ के सम्बन्ध में कबीर की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

परनिन्दा

> दोख पराए देखि करि चल्या हसत हसत।
> अदनै चर्याति न आवई, जिनकी आदि न अन्त।

धन

(क) एक कनक अरु कामनी विष फल कीए उपाय।
देखें ही थैं विष चढ़ै खांये सूं मरि जाइ।

(ख) कबीर सो धन सचिये जो आगैं कूं होइ।
सीस चढामे पोटली ले जात न देख्या कोइ।

आदि पर विचार किया गया है। मन की शुद्धि बहुत आवश्यक है—

जब लग मनहि विकारा, तब लगि नहिं छूटे ससारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निरमल माहि समाना।

मनुष्य को मन के अनुसार नही चलना चाहिए क्योंकि वह प्राय बुरे पथ पर जाता है। कबीर कहते हैं—

मन के मते न चालिए, छाडि जीव की बाणि।

मन को मार कर अपने वश में कर लेना चाहिए—

ममता मन मारि के, नान्हो कार-कार पीसि
सब सुख पावे सुन्दरी, ब्रह्म झलक्के सीस।

हृदय की सफाई का भी इसी से सम्बन्ध है। उसे भी कबीर आवश्यक मानते हैं —

हरि न मिले बिन हिरदे सूध।

पीछे भक्ति के प्रसग म उनके अनुसार आदर्श भक्त के सम्बन्ध में एक पद उद्धृत किया जा चुका है। यहाँ एक और उद्धरणीय है—

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरि पद चीन्हें सोई।
× × × × ×
असतुति निंद्या आसा छाडे तजे मान अपमाना।
लोहा कचन समि करि देखे, ते मूरति भगवाना।
च्यते तौ माधौ चिंतामणि हरिपद रमें उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा।

वस्तुत धार्मिक सामाजिक तथा आचारिक दृष्टि से यही कबीर का आदर्श है।

यहाँ कबीर के धार्मिक सामाजिक, आचारिक तथा व्यावहारिक सिद्धान्तो की कुछ प्रमुख बातो को सक्षेप में देखा गया। इससे स्पष्ट है कि वे समाज, व्यक्ति तथा व्यक्ति का व्यवहार कैसा चाहते थ। धर्म उनके लिए हृदय और मन की चीज थी। बाह्याचार का उनके लिए

बहुत न बोलना

बोलत बोलत बढ़हि विकारा ।

× × ×

कहु कबीर छूछा घट बोलै ।
भरिया होई सु कबहु ना डोलै ।

कमाना और खाना

कबीर ने अपने आर्थिक मत भी व्यक्त किए हैं । ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वे चाहते थे कि सब साधु-संत भी अपने लिए कमावें । और मांगना उन्हें पसद नही था—

मांगण मरण समान है बिरला बचै कोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ सों मति रे मंगावै मोइ ।

भक्ति के लिए वे आर्थिक दृष्टि से वे उचित निश्चिन्तता चाहते थे । उन्हें खूब मालूम था भूखा कुछ नही कर सकता वे कहते हैं—

भूखे भगति न कीजे । यह माला अपनी लीजे ।

× × ×

दुइ सेर मांगौ चूना । पाव घीव संग लूना ।
अधसेर मागौ दाले । मोको दोनो वखत जिवाले ।
खाटा मागौ चौपाई । सिरहाना और तुलाई ।

इस प्रकार कबीर जीवन की सामान्य आवश्यकताओ को अनावश्यक नहीं मानते थे । वस्तुत वे गृहस्थ को साधु और साधु को गृहस्थ बनाना चाहते थे कि दोनो में कोई अतर न रहे । हर व्यक्ति साधु और भक्त भी हो, एव कर्मठ गृहस्थ भी । कहना न होगा कि गाधी-दर्शन भी यही चाहता है ।

मन को वश मे रखना

इस बात पर सभी धर्मों में बल दिया गया है । यह समाज, आचार तथा धर्म सभी दृष्टियो से महत्वपूर्ण है । कबीर ने 'मन को अंग' नामका एक अलग अग ही रखा है, जिसमें मन को मारने तथा उसे वश में करने

दया

हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घट सागी।
ये हलाल वे झटके मारें आग दोनों घर लागी।

मध्यम मार्ग

कबीर मधि को अंग जे को रहे तो तिरत न लागे बार।
दुइ दुइ अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार।

मधुर शब्द

पंडित भया तो क्या भया, जो नहिं बोलै बिचार।
हतें पराई आतमा लिए जीभ तलवार।

सहनशीलता

खूंदन को धरती सहै, बाढ़ सहै बन राइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै दूजा सहा न जाइ।

कपट

कबीर तहां न जाइए जहां कपट को हेत।
जालौं कली कनीर की तन रातौं मन सेत।

सत्संग

मूरख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।
कदली सीप भुवंग मुखि, एक बूंद तिहुं भाइ।

भोजन

(क) मधुर खांड है खीचड़ी, जामें दो टुक लौंण।
रोटी हेड़ा खाय करि जानि गंवावै कौण।
(ख) रूखी सूखी खाय करि ठंडा पानी पीउ।
देख पराई चूपड़ी क्यों तरसावै जीउ।

संपत्ति और विपत्ति में समभाव

संपइ देखि न हरषियें, विपत देखि ना रोउ।
ज्यों संपइ त्यों बिपत है, विधिने रच्या सो होइ।

बहुत न बोलना

बोलत बोलत बढ़हि विकारा ।

× × ×

बहु कबीर छूछा घट बोलै ।

भरिया होई सु कबहु ना डोलै ।

कमाना और खाना

कबीर ने अपने आर्थिक मत भी व्यक्त किए हैं। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वे चाहते थे कि सब साधु-संत भी अपने लिए कमायें। भीख माँगना उन्हें पसंद नहीं था—

मागण मरण समान है बिरला बचै कोइ ।

कहै कबीर रघुनाथ सौं मति रे मँगावै मोइ ।

भक्ति के लिए वे आर्थिक दृष्टि से वे उचित निश्चिन्तता चाहते थे। उन्हें खूब मालूम था भूखा कुछ नहीं कर सकता। वे कहते हैं—

भूखे भगति न कीजे । यह माला अपनी लीजै ।

× × ×

दुइ सेर मागौ चूना । पाव घीव संग लूना ।

अधसेर मागौ दाले । मोको दोनो वखत जिवाले ।

खाटा मागौ चौपाई । सिरहाना और तुलाई ।

इस प्रकार कबीर जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को अनावश्यक नहीं मानते थे। वस्तुत वे गृहस्थ को साधु और साधु को गृहस्थ बनाना चाहते थे कि दोनो में कोई अंतर न रहे। हर व्यक्ति साधु और भक्त भी हो, एवं कर्मठ गृहस्थ भी। कहना न होगा कि गांधी दर्शन भी यही चाहता है।

मन को वश मे रखना

इस बात पर सभी धर्मों में बल दिया गया है। यह समाज, आचार तथा धर्म सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। कबीर ने 'मन कौ अंग' नामका एक अलग अंग ही रखा है, जिसमें मन को मारने तथा उसे वश में करने

आदि पर विचार किया गया है। मन की शुद्धि बहुत आवश्यक है—

जब लग मनहिं विकारा, तब लगि नहिं छूटे ससारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निरमल माँहि समाना।

मनुष्य को मन के अनुसार नहीं चलना चाहिए क्योंकि वह प्राय बुरे पथ पर जाता है। कबीर कहते हैं—

मन के मतें न चालिए, छाड़ि जीव की बाणि।

मन को मार कर अपने वश में कर लेना चाहिए—

मैंमता मन मारि के, नान्हां कारि-कारि पीसि
तब सुख पावे सुन्दरी, ब्रह्म झलक्के सीस।

हृदय की सफाई का भी इसी से सम्बन्ध है। उसे भी कबीर आवश्यक मानते हैं —

हरि न मिले बिन हिरदे सूध।

पीछे भक्ति के प्रसग म उनके अनुसार आदर्श-भक्त के सम्बन्ध में एक पद उद्धृत किया जा चुका है। यहाँ एक और उद्धरणीय है—

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अस लोभ बिवर्जित, हरि पद चीन्हैं सोई।
× × × × ×
असतुति निंदा आसा छाडै तजै मान अपमाना।
लौहा कचन समि करि देखे, ते मूरति भगवाना।
च्यते तौ माधौ चितामणि, हरिपद रमैं उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा।

वस्तुत धार्मिक, सामाजिक तथा आचारिक दृष्टि से यही कबीर का आदर्श है।

यहाँ कबीर के धार्मिक, सामाजिक, आचारिक तथा व्यावहारिक सिद्धान्तों की कुछ प्रमुख बातों को सक्षेप में देखा गया। इससे स्पष्ट है कि वे समाज, व्यक्ति तथा व्यक्ति का व्यवहार कैसा चाहते थे। धर्म उनके लिए हृदय और मन की चीज थी। बाह्याचार का उनके लिए

कोई मूल्य न था। भगवान के प्रति प्रेम और आस्थाओं के साथ यदि कोई अपने उचित पथ का अनुसरण कर रहा है, तो वह उनकी दृष्टि में सच्चा धार्मिक था और ऐसे लोगों का समाज ही उनके लिए आदर्श समाज था।

सूक्तियाँ भी हैं यद्यपि इनकी सख्या अधिक नही है। इस वर्ग का अधिकाश मध्यम कोटि का काव्य है। कुछ ही छन्द, अनुभूति की गहराई और उनकी काव्योचित प्रभविष्णु अभिव्यक्ति के कारण उच्चकोटि के हैं।

योग विशेषत हठयोग से सबद्ध छद प्रथम वर्ग से कम और तीसरे से अधिक हैं। इसमें योग के किसी भी रूप का क्रमानुकूल वर्णन नहं है। लगभग एक जैसी बातें—जो प्राय चक्रो, कुडलिनी सूर्य, ब्रह्मरध्र, अमृत पचपवना, और नाडियो आदि से सबद्ध हैं—बार-बार दोहराई गई हैं। इस वर्ग के साथ जहाँ अन्यो का मेल है वहाँ तो कुछ काव्यत्व आ गया है, अन्यथा इस वर्ग के छन्द 'पद्य' मात्र हैं 'कविता' नही।

उल्टबाँसी वाले छन्द सख्या में कुछ और भी कम हैं। ये प्राय दुर्बोध किन्तु मनोरजक हैं। आगे इनपर अलग से विचार किया गया है।

कबीर में रसात्मक छन्दो की सख्या सबसे कम है। शुद्ध भक्ति के कुछ छन्द ससार से विरक्ति पैदा करने वाले छन्द तथा आत्मा को नायिका और ब्रह्म को नायक मान कर लिखे गए विरह और मिलन के छन्द ही प्रमुखत इसमें आते हैं।

(कबीर के काव्य का मेरुदड उनका विचार या बुद्धितत्त्व है) दर्शन, भक्ति धर्म समाज व्यवहार के सबन्ध में उनके चिंतन का प्रतिफलन इसी रूप में हुआ है। उनके विचार चिंतन और अनुभूति की गहराई से उद्भूत हैं। इनमें अधिकाश काल और देश की सीमा को पार कर सार्वकालिक और सार्वभौम रूप में हमारे समक्ष आते हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी प्राय इतनी विषयोचित है कि बौद्धिक साधारणीकरण बडी सरलता से हो जाता है। पाठक कटु-सत्यो से अभिभूत हुए बिना नही रहता। भाव या हृदयतत्त्व के दर्शन प्रमुखत रसात्मक छन्दो में ही होते हैं। यद्यपि ऐसे छन्द थोडे हैं किन्तु उनकी रसार्द्रता और तीव्रता स्पृहणीय है विशेषत वियोग शृगार के कुछ छदो के भाव तो हिन्दी साहित्य में किसी से भी घटकर नहीं कहे जा सकते। कबीर की

कल्पना भी बडी उर्वरा है। उदाहरण या दृष्टांत आदि अलंकारो के लिए ठीक उदाहरण, प्रतीकात्मक छदो या उलटबाँसियो के लिए उपयुक्त प्रतीक तथा उपमा आदि के लिए अभिव्यजक उपमानो के चुनाव में उनकी इस शक्ति का पता चलता है। उनकी कल्पना का सबसे आकर्षक रूप उलटबाँसियो में दिखाई पडता है, जहाँ उनकी बात भीतर से जितनी ही तर्क-सगत होती है, बाहर से उतनी ही असगत और हास्यास्पद—

समन्दर लागी आगि नदियां जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि मछी रूषां चढ़ि गई।

कबीर की कला उत्कृष्ट नही है, किन्तु वस्तुत कवि का जो उद्देश्य था, तथा श्रोताओ के जिस बडे वर्ग को उसे अपनी बातें सुनानी थी, इनको देखते हुए उसे किसी और उत्कृष्टता की अपेक्षा भी नहीं थी। उनकी कला यदि और ऊँची होती तो उनके छन्द सबके लिए हस्तामलकवत न होते और वैसी स्थिति में उनका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता) यो कबीर साहित्यशास्त्रीय परम्पराओ से परिचित नही थे, और न पढे लिखे ही थे, किन्तु यह उनके लिए अच्छा ही हुआ। उनके अक्खड व्यक्तित्व से सभूत उनके झकझोर देनेवाले विचारो के लिए परम्परागत और बासी शास्त्रीयता सर्वथा अनुपयुक्त होती। वन के ताजे फूल-पत्तो के दोन में ही अच्छे लगते है, उसी प्रकार कबीर के ताजे सशक्त विचारो के लिए लोक-अभिव्यक्ति का सोधापन उपयुक्त ही नही, आवश्यक भी था। उसी के साथ वे ज्यादा फबते हैं। कबीर की कला शब्द शक्तियाँ, ध्वनि, अलकार, गुण, छद आदि सभी से अलकृत है किन्तु इनका वही रूप प्राय उनमें आया है जो लोक-अभिव्यक्ति के लिए अपरिचित नही है। प्रतीक भी उन्होने या तो वे लिए हैं जो कभी शास्त्रीय होने पर भी उनके काल तक लोक प्रचलित हो गए थे, या फिर वे जो जुलाहे, किसान, बनजारा आदि से सम्बन्धित हैं और लोकजीवन के जाने-पहचाने हैं।

(दे भाषा वाला अध्याय।)

१०

काव्यत्व

[कबीर ने कविता यश धन आदि के लिए नहीं अपितु व्यक्तिगत स्वानुभूति की अभिव्यक्तियों के लिए की, जिसका उद्देश्य था अनुभूत सत्य का प्रचार और प्रचार द्वारा मानव-कल्याण] इसी कारण उनमें उपदेशात्मकता अधिक है। उनकी एक साखी है—

हरि जी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौ सागर में जीव हैं, जे, कोई पकड़ै तीर।

उनका कहना है कि भगवान ने ऐसी प्रेरणा दी कि मैं अपने जीवन के अनुभूत सत्यों को छंद बद्ध करूँ। संसार सागर में डूबते अनन्त जीवों में संभव है कुछ उन सत्यों के सहारे डूबने से बचकर किनारे पर आ जाएँ। यह है उन्ही के शब्दों में उनका छन्द कहने का ध्येय।[१]

---

१ उन्होंने अन्यत्र भी ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनके इसी उद्देश्य का पता चलता है। उनका एक पद है—

कहूँ रे जे कहिबे की होइ।
नाको जानै ना को मानै ताथै अचिरज मोहि।
अपने अपने रंग के राजा, मानत नाहीं कोइ।
× × × ×
मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि-कहि हारयो, अब मोहि दोस न लाइ।

कबीर काव्य के अन्य रूपों या उद्देश्यों से अपरिचित नहीं थे। उन्हीं को दृष्टि में रख कर उन्होंने 'कवि' और 'कविता' की निन्दा भी है। वे कहते हैं राम या परम सत्य से रहित ससार का कोई भी कार्य कुहरे के समान सारहीन है। चाहे वह देवता की पूजा हो, हज्ज जाना हो, जटा बाँधना हो, कविता करना हो या कापडियो का जल लाने के लिए केदारनाथ जाना हो। इनके करने वाले अमरता की प्राप्ति न कर सके—

राम बिना ससार धध कुहेरा।

× × ×

देव पूजि पूजि हिन्दू मुये, तुरक मुये हज जाई।
जटा बाँधि बाँधि योगी मुये, इनमें किनहूँ न पाई।
कवि कवीनें कविता मूये, कापड़ी केदारों जाई।

ऐसा उद्देश्य रखने पर, कबीर का कविता के बनाव सिंगार या उसके बहिरग पर विशेष ध्यान न देना स्वाभाविक है। उन्हें तो सरल सीधी भाषा में (उलटबाँसियो का उद्देश्य कुछ और था जिन पर आगे विचार किया जायेगा) अपने विश्वजनीन अनुभूत सत्यो का 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' प्रकाशित करना था। उनका ध्यान था तो केवल उस सत्य की रक्षा पर, उसे अक्षुण्ण रूप में सबके समक्ष रख देने पर।

कबीर के छन्द प्रमखत चार प्रकार के हैं

(क) उपदेशात्मक

(ख) योग से सबद्ध

(ग) उलटबाँसियों वाले

(घ) रसात्मक

कुछ छन्दो में इनमें से दो या अधिक का मिश्रण भी है।

प्रथम वर्ग के छन्द कबीर में सर्वाधिक है, जिनमें दार्शनिक, धार्मिक आचारिक, सामाजिक और व्यावहारिक नीति और उपदेश की बातें (देखिए इससे सबद्ध अध्याय) कही गई हैं। अधिकाश साखियाँ इसी वर्ग में आती हैं। कुछ थोडे पद या उनके अश भी इनमें हैं। इनमें

रस

ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर म रसात्मक छद अधिक नह हैं। उलटवासियों में अदभुत रस है, कुछ पदो और कुछ उपदेशात्मक साखियों म शात रस है सयोग वियोग के छदो में शृगार है और कहीं-कहीं बीभत्स रस है। प्रमुखता शात और शृगार की है।

वस्तुत कबीर का वियोग और सयोग शृगार सामाय या लौकिक वियोग-सयोग से भिन्न माना जाना चाहिए क्योंकि वह प्रतीकात्मक है और मूलत आध्यात्मिक है। यो इस में सदेह नही कि उसकी तीव्रता पाठक को रसार्द्र किए विना नही रहती। कुछ रसो के उदाहरण हैं—

वियोग

> कब देखूँ मेरे राम सनेही। जा बिन दुख पावै मरी देही
> हूँ तेरा पथ निहारूँ स्वामी। कबरे मिलहुग अतरजामी
> जैसे जल बिन मीन तलपै। ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै
> निस दिन हरि बिन नींद न आवै। दरस पियासी क्यू सचु पावै
> कहै कबीर अब बिलम्ब न कीजै। अपनौ जानि मोहि दरसन दीजै

(सयोग वियोग के लिए देखिए रहस्यवाद' शीर्षक अध्याय)

शात

> हरि सगत सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
> निस बासुरि सुख निधि लह्या अतरि प्रगटया आप।

बीभत्स

> चलत कत टेढो टेढो रे।
> नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगधि को बैठो रे।
> जे जारे तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई।
> सूकर स्वान काग कौ भखिन, ताम कहां भलाई।

अदभुत

> एक अचभा देखा रे भाई। ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
> पहले पूत पीछे भइ माइ। चेला के गुरु लागै पाइ।

जल को मछरी तरवर ब्याई । पकडि बिलाई मुर्गी खाई ।
बैलहि डारि गोन घरि आई । कुत्ता कूं लै गई बिलाई ।

वीर

गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानं घाव ।
खेत बुहार्‌या सूरिवै, मुझ मरणे का चाव ।

अलकार

कबीर में सफल अभिव्यक्ति और प्रभविष्णुता के लिए सरल लोक-प्रिय अलकारो का प्रयोग मिलता है, यद्यपि इनकी सख्या बहुत अधिक नहीं है। इस कमी का कारण कदाचित् कबीर के छन्दो में बौद्धिकता का प्राधान्य है। कबीर ने सबसे अधिक प्रयोग रूपक—उसमें भी विशेषत सागरूपक—का किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त अन्य प्रमुख अलकार अन्योक्ति, उदाहरण, दृष्टात, विभावना, उपमा, विरोधाभास, काव्यलिंग तथा उत्प्रेक्षा आदि हैं। कुछ के उदाहरण हैं

रूपक

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डालिकै, पिय को लिया रिझाय।

या

माया दीपक नर पतँग भ्रमि भ्रमि इवै पडत।

अन्योक्ति

मालन आवत देखि करि कलियाँ करी पुकार।
फूले-फूले चुणि लिए, कालि्ह हमारी बार।

उदाहरण

कबीर मारी मरउ कुसग की केले निकटि जु बेरि।
उह झूलै उह चीरिए साकत सग न हेरि।

दृष्टांत

सत न छाडै सतई, जे कोटिक मिलै असन्त।
चन्दन भुवंगा बैठिया, सीतलता न तजत।

विभावना

> बिन मुख खाइ चरन बिन चालै।
> बिन जिम्या गुण गावै।

उपमा

> यहु ऐसा ससार है, जैसा सैंवल फूल।
> दिन दस के ब्योहार को, झूठे रगि न भूल।

उलटबाँसी

'उलटबाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विवाद है। कुछ लोग इसे उलटा+अश से मानते है तो कुछ उल्टा+वास (बकवास आदि प्रयुक्त 'वास प्रत्यय) से और कुछ उलटा+पाश्व(7वास) से। यों उल्ट +वाश् (शब्दकरना) से या उलटा+वैदिकी 'वास' (शब्द) के लोक प्र लित रूप से भी इसकी व्युत्पत्ति मानी जा सकती है। ऐसा लगता है कि इन व्युत्पत्तियो में 'वास प्रत्यय वाली व्युत्पत्ति ही ठीक है और कबीर वे विरोधियो न व्यग में उनकी विशष प्रकार की रचनाओ को उलटबाँसी कहा और बाद में यही नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार की रचनाओ की परम्परा वेदो तक जाती है। ऋग्वेद (इस बैल के चार सींग तीन चरण, दो सिर हैं) अथववेद तथा कठ श्वेताश्वतर आदि कई उपनिषदो में इस प्रकार की उक्तिया ह जो उलटबाँसी कही जा सकती हैं। उलटबासिया बौद्ध और जैन ग्रथो म भी मिलती हैं। धम्मपद में मात पिता को नष्ट करके ब्राह्मण के निष्पाप हो जान की बात इसी प्रकार की है। बौद्धधम के ध्यान सम्प्रदाय (जिसका चीन जापान में जन सम्प्रदाय के रूप में प्रचार है)में भी उलटबासिया मिलती हैं। सिद्धो ने भी इसका पर्याप्त प्रयोग किया है। ढण्ढपा कहत हैं कि बैल ब्याता है गाय बध्या रहती है। सिद्धो की इस शैली को हरप्रसाद शास्त्री न साध्य भाषा जिसमें अथ सध्या के प्रकाश की भाँति अस्पष्ट हो) कहा है। विधुशखर भटटाचाय तथा शशि भूषण दास गुप्त इसे मूलत सधाभाषा (विशिष्ट अभिप्राय की भाषा) मानते हैं। नाथो में भी यह परम्पर

मिलती है। गोरखनाथ इसे उलटी चरचा (उलटी चरचा गोरख गावै) कहते हैं। उनकी 'उलटी चरचा' की परपरा में ही कबीर की उलटवासियाँ आती है। दोनो में साम्य से यह बात स्पष्ट है—

डूँगरि मछा जलि सुसा पाणी मे दौ लागा।

—गोरख

(मछली पहाडी पर चढ गई, खरगोश पानी में मिल गया, पानी में आग लग गई।)

समदर लागी आगि नदिया जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मछी रुखा चढि गई।

—कबीर

कबीर ने 'उलटवासी' शब्द का प्रयोग नही किया है। हाँ, उन्होने इसे 'उल्टा वेद' अवश्य कहा है—

है कोई जगत गुरु ग्यानी उलटि वेद बूझै।

बाद में सुन्दरदास आदि ने इसे 'उलटी' या 'विपर्यय' आदि नामो से से अभिहित किया है।

डॉ॰ बडथ्वाल तथा कुछ अन्य लोगो का कहना है कि इस प्रकार के प्रयोग प्रमुखत दो दृष्टियो से किए जाते है। एक तो यह कि सत्य की अभिव्यक्ति बिना इस प्रकार के विरोधी कथनो के सहारे नही हो पाती, और दूसरे यह कि सत्य को अनधिकारी व्यक्ति से बचाने के लिए यह गढ शैली आवश्यक है। जहाँ तक प्रथम का सबध है, ब्रह्म के लिए विभावना आदि अलकारो के प्रयोग में तो इसे किसी सीमा तक माना जा सकता है, किन्तु वेदो से लेकर कबीर, दादू, सुन्दर तथा शिवदयाल आदि तक सर्वत्र इसका प्रयोग इसी रूप में हुआ हो, एसी बात नही है। एसे सत्यो को कहने के लिए भी इनका प्रयोग हुआ है, और खूब हुआ है, जो सीधी सरल भाषा में और अच्छी तरह अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। जहाँ तक दूसरी दृष्टि का प्रश्न है, सभव है आरम्भ में इस शैली का प्रयोग साधना आदि के क्षेत्र में इसीलिए किया गया हो, किन्तु आज ऋग्वेद से

लेकर शिवदयाल आदि तक जितने भी प्रयोग उपलब्ध हैं कहीं भी यह मानने की गुंजाइश नहीं है। उन पंक्तियों या छंदों में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है जो आस-पास की पंक्तियों या छंदों से अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण हो और इस आधार पर अन्य पंक्तियों या छंदों में कही गई बातों का अधिकारी सर्व सामान्य को माना जाय और उन उलटबाँसियों का केवल विशिष्ट लोगों को। उनमें भी विशिष्ट शैली में वही बातें कही गईं जो अन्यत्र सीधी शैली में व्यक्त की गई हैं। सिद्धों नाथों तथा कबीर आदि संतों में इस शैली के प्रयोग का यही कारण दिखाई पड़ता है कि इस प्रकार की स्वभाव या प्रकृति के नियमों के विरुद्ध बातें कहकर वे लोग सर्व साधारण को चमत्कृत करके आकर्षित करना चाहते थे। विचित्र और अवगुंठित वस्तु का आकर्षण सामान्य और खुली से अधिक होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आकर्षित व्यक्ति में जिज्ञासा का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार उनकी बातें सुनने और समझने को उत्सुक लोग इस शैली के प्रयोग से सरलता से मिल जाते थे। सामान्य छंद को सुन-समझकर लोग चले जाते रहे होंगे किन्तु ऐसी उलटी बातें सुनकर कुछ तो चले जाते रहे होंगे किंतु कुछ उसका रहस्य जानने के लिए कहने वाले से पूछते रहे होंगे। इस तरह व्यक्तिगत संपर्क और अपनी बातों को सविस्तार समझाने का उन्हें अवसर मिलता रहा होगा। कबीर का उद्देश्य कदाचित यही था। बाद के संतों ने बिना विशेष उद्देश्य के मात्र अनुकरण भी किया होगा। इस प्रसंग में एक बात और कही जा सकती है। कबीर शास्त्रियों और पंडितों को खूब फटकारा करते थे। संभवतः उन पंडितों तथा सामान्य जनता के आगे यह स्पष्ट करने के लिए कि ये पंडित सभी बातों को नहीं समझते या रहस्य की सभी बातें इनके शास्त्रों में ही नहीं हैं, अपितु उनके पास भी हैं। कबीर ने इनका प्रयोग किया। इसमें उनका उद्देश्य आत्म प्रदर्शन नहीं था। वे इनके द्वारा लोगों की पंडितों की ओर से आस्था उठाना तथा उन्हें अपने सत्यों की ओर लाना चाहते थे। इसीलिए

कई उलटबांसियो मे उन्होने पडितो को सबोधित किया है या उन्हें एक प्रकार की चुनौती है—

(क) सोई पडित सोतत ग्याता, जो इहि पदहि विचारे।

(ख) कहै कबीर ताहि गुरु करों, जो इहि पदहि विचारे।

(ग) पडित होइ सुपदहि बिचारै।

(घ) बुझै अकथ कहाणी।

(ङ) बुझ बुझ पडित विरला होय।

कबीर की उलटबांसियां कई प्रकार की हैं। विषयो के आधार पर उन्हें यौगिक साधना, ससार, माया, काल, विरह, ज्ञान आदि ८-९ वर्गों में बांट सकते हैं। उलटबांसियों में जो असगति या उल्टापन दिखाई पडता है, कभी तो मात्र शब्दगत होता है—

ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।

यहाँ 'सिंह' का अर्थ ज्ञानी मन है और गाई का अर्थ 'इंद्रिया'। अर्थात् अर्थ के स्तर पर विरोध नही है।

और कभी शब्दगत तथा अर्थगत दोनो

कौतुक दीठा देह बिन रवि ससि बिना उजास।

उलटबांसियो में प्राय विषम, अधिक, विभावना, असगति विरोध आदि विरोध मूलक अलकारो का प्रयोग होता है। इनके आधार पर भी इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

विषम पर आधारित—

अकासे मुखि औंधा कुआं पाताले पनिहार।

अधिक पर आधारित—

जिहि सर घडा न डूबता अब मैंगल मलि न्हाइ।

विभावना पर आधारित—

तरवर एक पेड बिन ठाढ़ा। बिन फूलां फल लागा।

अभिव्यक्ति के आधार पर भी उलटबांसियो के दो वर्ग बनाए जा सकते है। एक तो वे जिनमें प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयोग होता है जैसे

ज्ञान के लिए सिंह या इंद्रियो के लिए गाय । दूसरे प्रकार की वे हैं जिनमें ऐसे शब्दो का प्रयोग नही होता । इस दृष्टि से कुछ उलटबासियाँ मिश्र वर्ग की भी हो सकती है ।

उलटबाँसियो में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक कई प्रकार के मिलते हैं, जैसे, (१) जीव-जतु, (२) पेड़-पौधे, नदियाँ, ग्रह, आकाश आदि प्राकृतिक वस्तुएँ, (३) माई, बाप आदि सबध-सूचक सज्ञाएँ आदि ।

चमत्कार की प्रधानता होते हुए भी उलटबाँसियो को 'काव्य' सज्ञा का अधिकारी नही माना जा सकता ।

छंदसाखी

कबीर द्वारा रचित रचनाएँ प्रमुखत दो प्रकार की है साखी और पद । साखी को ही 'सलोक' (श्लोक) भी कहा गया है । 'साखी' का सबध सस्कृत शब्द 'साक्षी' है । 'साक्षी' का अर्थ है 'गवाह', जिसने किसी बात को प्रत्यक्ष देखा हो । इस शब्द के इतिहास में ध्वन्यात्मक के साथ-साथ आर्थिक परिवर्तन भी हुए और बाह्यत जहाँ यह 'साखी' बना भीतर से 'महापुरुष' होता, महापुरुषो के 'वचन' या 'आर्यवचन' का समानार्थी हो गया । कबीर आदि सतों में इसका प्रयोग 'अनुभव पर आधारित आप्त वचन' के लिए ही हुआ है ।

V प्राय यह समझा जाता है कि कबीर की साखियाँ केवल दोहा छद में लिखी गई है । वस्तुत ऐसी बात नही है । उन्होंने अपनी साखियो में दोहे (१३+११) के अतिरिक्त सोरठा,(११+१३), सार(१६+१२), चौपाई (१५+१५), गीता (१४+१२), दोही (१५+११), हरिपद (१६+११) आदि कई अन्य छदो का भी प्रयोग किया है । ये छद सर्वत्र अपने शुद्ध रूप में नही आए हैं ।

पद

पद को ही सबद (शब्द)या बानी (वाणी) भी कहा गया है । 'पद' शब्द यो तो सस्कृत का है किन्तु सस्कृत में इस विशेष अर्थ में इसका प्रयोग नही मिलता । सर्व प्रथम द्रविड साहित्य में 'पद्म' में यह अर्थ

भरा गया और वहाँ से इस नये अर्थ के साथ उत्तर भारत में इस शब्द का प्रवेश हुआ।

पद गेय होते हैं। कबीर के पद दोहा, दोही, सार आदि अनेक प्रकार के छंदो के मेल से बने हैं। यहाँ भी इनका रूप सर्वत्र शुद्ध नही है। बहुत से पदो में आरंभ में ध्रुव अथवा टेक है। तुक की दृष्टि से अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ और अव्यवस्थाएँ मिलती हैं।

रमैनी

कबीर के नाम से कुछ रमैनियाँ भी मिलती हैं, यद्यपि कुछ लोगो का ऐसा भी विचार है कि कबीर ने रमैनियाँ नही रची थी। उनके बाद तुलसी के रामायण की लोकप्रियता देख उसी की देखा-देखी चौपाई (१६) दोहे में कबीरपंथियो ने इसकी रचना की और 'रामायण' के आधार पर ही इसे 'रमैनी' कहा गया। विचारदास ने अपने बीजक में 'रमैनी' शब्द को 'रामणी' से संबद्ध माना है, जो किसी भी रूप में तर्क-संगत नही लगता। मेरा अपना विचार है कि कुछ रमैनियाँ यद्यपि कबीर रचित अवश्य हैं, किन्तु यह नाम निश्चित रूप से बाद का है।

'बावनी' नाम से मिलने वाली रचना दोहे-चौपाई में है। बीजक म चौतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसत, चाचर, बेली, बिरहुली तथा हिंडोला, नाम से आठ अन्य रचनाएँ भी हैं। कुछ लोगो ने इनको अलग-अलग छंद मान लिया है, यद्यपि ऐसा मानना अशुद्ध है। इनमें दोहा, चौपाई, पद्धरि, उपमान, रूपमाला आदि साहित्यिक छंदो के अतिरिक्त १६+१४, १३ +८, १५+८ तथा १७ मात्राओ के कुछ लोकछंदो का भी प्रयोग हुआ है। इनमें से अधिकांश की प्रामाणिकता संदिग्ध है। एम ए गनी नाम के एक विद्वान् ने कबीर के नाम से एक 'गजल' खोज निकाली है और उन्हें उर्दू का प्रथम गजलगो माना है, किन्तु इस गजल की भी प्रामाणिकता संदिग्ध है। कबीर के सभी छंद मात्रिक हैं, यद्यपि उनमें मात्रा का ठीक प्रकार से ध्यान नही रखा गया है। लगता है कि अपने अधिकांश छंद उन्होंने गाकर कहे। इसी कारण लय और

गेयता पर ही उनमें विशेष ध्यान दिया गया, ज्ञात होता है। ऐसे अनुमान के लिए आधार भी है—

(क) पद गाएँ मन हरषिका,

(ख) साखी सब्दहि गायत भूले,

इनके अतिरिक्त बार-बार 'हरषि हरषि गुण गाइ' 'राम गुण गावै' 'गुण गोविंद के गाइ' 'हरि के गुन गावउ' में भजन गाने के प्रति उनके प्रेम तथा रबाब, किंगुरी, वीणा के बार-बार उदाहरण लेने से संगीत से उनके परिचय का भी अनुमान लगता है। इससे भी उपर्युक्त स्थापना को बल मिलता है। यों उनके पदों का रागों में विभाजन भी मिलता है, किन्तु वह तो निश्चित रूप से बाद की चीज है।

११

भाषा-शैली

कबीर की अनेक अन्य समस्याओं की भाँति उनकी भाषा की समस्या भी बडी विवादास्पद रही है। अनेक विद्वानों ने इस पर अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास में लिखते हैं—साखी की भाषा सधुक्कडी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खडी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं, जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। इसी से मिलती-जुलती बात उन्होंने बुद्ध-चरित की भूमिका में भी कही है—कबीर दास ने यद्यपि पँचरंगी मिली-जुली भाषा का व्यवहार किया है। जिसमें ब्रजभाषा तथा उस खडी बोली और पंजाबी तक का पूरा-पूरा मेल है, जो पंथ वालों की सधुक्कडी भाषा हुई, पर पूरबी भाषा की झलक उसमें अधिक है।' विचारदास ने बीजक की भूमिका में लिखा है—'इस ग्रन्थ में संयुक्त प्रान्तीय अवधी भाषा का बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है। इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है, जिसको सर्व साधारण हिन्दी जानने वाले भी नहीं समझ सकते हैं। इसी से मिलता-जुलता मत रेवरेंड अहमदशाह का भी है, वे कहते हैं। 'बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आस पास की बोली है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कबीर ग्रंथावली की भूमिका में बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—'कबीर में केवल शब्द

ही नही, क्रियापद कारक चिह्नादि भी कई भाषाओ मे मिलते है। क्रिया पदो के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खडी बोली के हैं। कारक-चिह्नों में से, कै, सन, रा आदि अवधी के हैं। कै ब्रज का है और पै राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वय कहा है—'मरी बोली पूरबी' तथापि खडी, ब्रज, पजाबी, राजस्थानी, अरबी—फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढा हुआ है। 'पूरबी' से उनका क्या तात्पर्य है, यह नही कह सकते। उनका बनारस निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परन्तु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है, यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ ससर्ग दिखाई देता है।' डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर की भाषा को पजाब प्रभावित अवधी का रूप कहा है। सत कबीर की भूमिका में व्याकरण पर विचार करते हुए वर्मा जी लिखते है—'कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिन्दी रूप ही लिये हुए है। उसमें स्थान-स्थान पर पजाबी प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है, किन्तु प्रधान रूप से उसमें हमें पूर्वी हिन्दी (अवधी) व्याकरण के रूप ही मिलते है। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने प्रासगिक रूप से कबीर की भाषा पर विचार किया है। उनका कथन है कि कबीर यद्यपि भोज पुरी क्षेत्र के निवासी थे किन्तु तत्कालीन हिदुस्तानी कवियो की तरह उन्होंने ब्रजभाषा तथा कभी-कभी अवधी का भी प्रयोग किया। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप झलक आता है, किन्तु जब वे अपनी भोजपुरी बोली में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पक्ष की भाषा के तत्व प्राय दिखाई पडते है। डॉ० उदय नारायण तिवारी का कहना है कि 'वास्तव में कबीर की मातृभाषा बनारसी बोली थी जो, भोजपुरी का ही मूल रूप है।' इसके विपरीत ढोला मारू रा दूहा' की भाषा पर विचार करते हुए सूर्यकरण पारीक ने बडे जोरदार शब्दो में लिखा है—विषमता होने पर भी हम यहाँ पर यह कहने का साहस करते है कि कबीर की भाषा राजस्थानी है एव कबीर को वैसे ही राजस्थानी

का कवि कहा जा सकता है जैसा कि ढोला मारू काव्य के कर्ता को।' इसी प्रकार के और भी मत कबीर की भाषा के सबध में व्यक्त किए हैं।

कुछ लोगो ने इस सबध में अतस्साक्ष्य का सहारा लिया है। बीजक की एक साखी है—

बोली हमरी पूरब की हमें लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै धुर पूरब का होय।

इस आधार पर कुछ लोगो का कहना है कि इसमें विवाद की आवश्यकता ही नही, जब स्वय कवि अपनी बोली पूरबी कहता है तो फिर उसकी भाषा 'पूरबी' है। किन्तु गभीरता से विचार करने पर लगता है कि यहाँ 'पूरबी' का अर्थ वह नही है जो प्राय लिया जाता है। 'हमें लखै नहि कोय' से स्पष्ट है कि कोई गभीर बात कही जा रही है। केवल पूर्व दिशा या देश की बात नही है। बरकतुल्ला पेमी ने भी कहा है—

हम पूरब के पुरबिया जात न पूछे कोय।
जात-पात सो पूछिए धुर पूरब का होय।

कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

पूरब दिसा हस गति होई।
है समीप सधि बूझै कोई।

इस प्रकार 'पूरब' का अर्थ है 'पूर्व दशा' या 'आध्यात्मिक अनुभव।' आशय यह है कि यह अतस्साक्ष्य इस क्षेत्र में हमारी सहायता नही कर सकता।

इन विभिन्न मतो को छोडकर अब कबीर की रचनाओ पर दृष्टि डाली जा सकती है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, कबीर की रचनाओ के प्रमुखत तीन पाठ हमारे सामने है बीजक, सतकबीर (या गुरू ग्रथ-साहब) और कबीर ग्रथावली। बीजक में रूपो और शब्दो की दृष्टि से अवधी, भोजपुरी, ब्रज, खडी बोली का प्रयोग है, जिनमें अवधी का कुछ आधिक्य है। सत कबीर में उपर्युक्त के अतिरिक्त राजस्थानी रूप भी

है। इसमें भोजपुरी को छोड़कर सभी के रूप पर्याप्त है। प्रायः लोगों ने लिखा है कि, पंजाबी रूप भी इसमें पर्याप्त है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यहाँ शब्द की बात नहीं की जा रही है। जहाँ तक रूपों का प्रश्न है ऐसे रूप तो है जो पंजाबी- बांगरू-खड़ी बोली या पंजाबी राजस्थानी में है, किन्तु ऐसे रूप अपवाद स्वरूप ही मिलेंगे जो केवल पंजाबी के हैं। कहना न होगा कि उभयनिष्ट रूपों को राजस्थानी और खड़ी बोली का मानना अधिक ठीक है। ग्रंथावली की भाषा अवधी, ब्रज, खड़ीबोली, राजस्थानी, भोजपुरी है जिनमें प्रथम चार का प्राधान्य है, निष्कर्ष यह निकलता है कि कबीर की रचनाएँ आज जिस रूप में प्राप्त हैं, उनमें ब्रज राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी का प्राधान्य और यों भोजपुरी के भी अंश हैं।

उदाहरणार्थ

ब्रज

(१) मेरो मन लागो तोहि रे।

(२) कौन पूत को काको बाप।

(३) लेट्यो भोमि बहुत पछितायो

(४) घर जाजरो वलींडो टेढो ओलोती अरराइ।

राजस्थानी

(१) क्या जाणों उस पीव कू कैसे रहसी रंग।

(२) थोथ्यरे तुम थे डरपौ भारी।

(३) बीछड़िया मिलिबो नही ज्यो कांचली भुवंग।

(४) जीभड़ियाँ छाला पड्या।

खड़ीबोली

(१) राम कहे भल होइगा नहितर भला न होइ।

(२) आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जीऊँगा।

(३) कबीर तू तू करता तू हुआ मुझमें रही न हूँ।

(४) करणी किया करम का नास।

अवधी

(१) जस तू तस तोहि कोई न जान।
(२) पकरि बिलारी मुरगै खाई।
(३) साध सगत मिलि करहु विचारा।
(४) तू पडित का कथसि गियाना।

भोजपुरी

फूल भल फूलल मालिन भल गाँथल।
फुलवा बिनसि गैल भौंरा निरासल।

कभी-कभी तो ऐसा भी मिलता है कि एक ही पक्ति 'बीजक में अवधी के स्पश से युक्त है, 'सत कबीर' में पुरानी खडी बोली से युक्त है और 'ग्रथावली' में व्रजभाषा से युक्त—

बीजक—फिरहु का फूले फूले
जब दस मास अउँध मुख होते सो दिन काहे भूले।
सतकबीर—काहे भईआ फिरते फुलिया फुलिया
जब दस मास उरध मुख रहता सो दिन कैसे भूलिया।
कबीर ग्रथावली—फिरत कत फूल्यो फूल्यो
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यो।

पहले जो कई बोलियो के उदाहरण कबीर की भाषा से दिये गए है उनसे यह अनुमान सरलता से लगता है कि उन्होन इन सभी बोलियो के रूपो का प्रयोग किया। उनकी बहुत कम ऐसी पक्तियाँ मिलेंगी जिनमें किसी एक बोली के रूप ही प्रयुक्त हुए हो। यदि एक बोली में लिखा होता तो कम से कम कुछ पक्तियाँ तो केवल एक बोली में मिलती बाद के उपयुक्त तीन उदाहरणो में हम देखते हैं कि एक ही छदाश तीनो परम्पराओ में तीन रूप में है जिसका आशय यह है कि उन्होंने जो कहा उसमें भी परपरानुसार कुछ परिवतन हुए किन्तु उसका यह आशय कदापि नही है कि किसी एक बोली में उन्होंने कहा, क्योकि इन तीनो पक्तियों में किसी में भी बोली की दृष्टि से एकरूपता नही है।

निष्कर्षतः कबीर की भाषा के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें कही जा सकती हैं—

१. ऊपर विभिन्न विद्वानों ने कबीर की भाषा को कोई एक बोली—राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि—माना है। ऐसा मानना उचित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि कबीर का रचनाकाल मोटे रूप से ईसा की १५वीं सदी है। उस समय तक उन रूपों में ब्रज, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि पूर्णतया अलग नहीं हुई थीं, जिस रूप में आज हैं। ऐसे रूप भी पर्याप्त थे, जो आज एक बोली के माने जाते हैं किन्तु उस समय अन्य क्षेत्रों में भी चलते थे। इस रूप में उस काल की बोलियों में थोड़ा बहुत मिश्रण यों ही था। यही कारण है उस काल के आस-पास के दक्खिनी हिन्दी या अन्य संत और सूफी कवियों में भाषा बहुत कुछ मिश्रित सी थी। हाँ उनमें मिश्रण उतना अधिक नहीं है जितना कि कबीर में है। इसके प्रमुख कारण दो हैं। एक तो कबीर ने नाथों से बहुत सी परम्पराएँ लीं जिनमें एक भाषा परम्परा भी है। नाथों का काल १००० ई० के लगभग से शुरू हो जाता है। उस समय पूरे उत्तरी भारत में भाषा का रूप आज की दृष्टि से पर्याप्त मिला जुला था। परिनिष्ठित भाषा के रूप में एक अपभ्रंश रूप चलता था। इस रूप में राजस्थान और दिल्ली के आसपास के रूप अधिक थे। उस परिनिष्ठित रूप के लोक प्रचलित रूप को ही नाथों ने अपनाया। नाथों का राजस्थान से सम्बन्ध होने के कारण उनकी भाषा में पश्चिम के कुछ और रूप आ गए हों तो असंभव नहीं। नाथों की इस सामान्य भाषा का ही कुछ बाद विकसित रूप कबीर आदि ने अपनाया। ऐसी स्थिति में तत्कालीन स्थानीय बोलियों की तुलना में कबीर द्वारा अपनाई गई साहित्यिक बोली में मिश्रण कुछ अधिक रहा ही होगा। कबीर ने उस रूप में कविता नहीं की जैसे विद्यापति आदि ने की। उनका उद्देश्य ही था 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'। इसीलिए सामान्य लोगों में नाथों द्वारा प्रचारित उस भाषा को उन्होंने अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। यदि

वे अपनी मातृभाषा—बनारस की बोली—को माध्यम बनाते[1] तो निश्चय ही उनकी बातें उस पूरे क्षेत्र में ठीक से सुनी और समझी न जाती। हाँ ये, यह असभव नही कि उस भाषा में कुछ नये रूप उनकी अपनी बोली के तथा कुछ नए शब्द उनके देशाटन के कारण विभिन्न बोलियो या भाषाओ के आ गए हो, जैसे आज हिन्दी का एक परिपक्व रूप होने पर भी पटना, बनारस, लखनऊ, दिल्ली, कुरुक्षेत्र और जयपुर का विद्यार्थी ठीक एक प्रकार की हिन्दी—व्याकरण तथा शब्द समूह दोनो दृष्टियो से—नही लिखता बोलता।

मिश्रण के आधिक्य के दूसरे कारण के अतर्गत कई बातें कही जा सकती है। पहली बात तो यह है कि उन्होने लिखा नही, कहा, और कहा भी किसी एक क्षेत्र में नही बल्कि देशाटन करते हुए, अनेक बोली-भाषी क्षेत्रो में। अतएव श्रोताओ ने भी उसमें अपने स्थान एव योग्यतानुसार कुछ मिश्रण अपनी ओर से कर दिए। दूसरे, लिपिबद्ध होने तक उनके छद एकाधिक पीढ़ियो को मौखिक रिक्थ के रूप में मिले। वहाँ भी मिश्रण सम्भावनाएँ है। तीसरे लिपिबद्ध होने के बाद जब कई प्रतिलिपियाँ हुई और उनकी अलग अलग परम्पराएँ चली तो परम्पराओ के स्थान के अनुसार भी मिश्रण होता गया।[2]

---

१ इस सबध में एक और बात कही जा सकती है। बीजक पूरब की परम्परा है। उसमें यदि मिश्रण की सभावना है भी तो केवल भोजपुरी या मगही रूपो की, किन्तु उसमें भी भोजपुरी रूपो का अनुपात नगण्य या नहीं के बराबर है। ऐसी स्थिति में यह तो बहुत स्पष्ट है कि उन्होंने भोजपुरी मे नही लिखा। यदि उसमें लिखा होता तो बीजक में भोजपुरी रूप अवश्य अधिक मिलते।

२ अभी हाल में डॉ पारसनाथ तिवारी ने सारी उपलब्ध हस्त-लिखित और मुद्रित प्रतियो के आधार पर पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार कबीर के पाठ का निर्णय किया है। पूर्व कथित

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर में 'आछिरो' और 'पारै' को बंगाली माना है। वस्तुतः आज ये धातुएँ बंगला में ही प्रयुक्त होती हैं, किन्तु कबीर के काल में अवधी-भोजपुरी क्षेत्र में भी प्रयुक्त होता थीं। जायसी-तुलसी ने भी 'पारना' (सकना) का प्रयोग किया है। 'आछिरा' से सम्बद्धरूप आछत (रहते हुए) तो आज भी भोजपुरी में प्रयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में कबीर में इन्हें बंगला प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जो हिन्दी-क्षेत्र में अब समाप्त-से हैं। इस दृष्टि से ये दो ही नहीं, अपितु और भी प्रयोग मिल सकते हैं।

शब्द-समूह की दृष्टि से कबीर की भाषा अन्य संत एवं नाथ कवियों की भांति ही लोक के निकट है। उसमें तद्भव ऐसे भी हैं, जिन्हें पहचानना कठिन हो जाता है, जैसे स्यंघ (सिंह) स्यंत (मित्र), निध्य (निधि) बिनान (विज्ञान) आदि। तत्सम शब्द या तो ऐसे हैं, जो तत्सम होते हुए भी अत्यन्त सरल हैं। जैसे नीर जल, गभीर, उदार, कष्ट, क्रोध, पुर, गगन, मुनि पावक, काम, मद, लोभ, सज्जन आदि, या फिर ऐसे हैं जो पारिभाषिक या हिन्दू साधना के हैं जैसे मरु कल्पलतिका, महाखा निम्नगा, कुचिका, कुंडलिनी आदि। स्पष्ट ही संस्कृत को 'कूपजल तथा भाषा को बहता नीर' कहने वाले का झुकाव संस्कृत तत्सम की ओर अधिक नहीं है। अरबी-फारसी शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग कबीर ने किया है। इनमें भी अधिकांश शब्द सरल तथा लोकप्रचलित हैं जैसे साहब दीवाना,

---

परम्परागत से प्राप्त पाठ की तुलना में उसे प्रामाणिक माना जाएगा तथा तथा मूलप्रति और कबीर की मूलरचना के अपेक्षाकृत निकट माना जायेगा। उसे देखने पर भी उपर्युक्त निष्कर्षों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वहाँ भी भाषा का मिश्रित रूप ही है। अधिकांश क्रिया रूप व्रज और खड़ी बोली के हैं तो विभक्तियाँ अवधी की। 'अल प्रत्ययांत रूप जो भोजपुरी की विशेषता है सात आठ से अधिक नहीं हैं।

जहाज औरत, हद, दोस्त, गौर, खूब, खर्च, ईमान, खबर आदि। कुछ अरबी-फारसी शब्द कठिन भी हैं जैसे नफ़र, अहला, अहदम, मुहरका, फिल सुन्नत आदि। कबीर को जहाँ मुसलमानो या मुल्ला मौलवियो को समझाना या डाँटना फटकारना हुआ है, उन्होंने अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग बहुत अधिक किया है। जैसे—

भिस्त हुसका दोजगा दु दर दराज दिवाल।
पहनाम परदा ईत आतस जहर जगम जाल।
हम रफत रहबरहु समा मैं खुर्दा सुमा बिसियार।
हम जिमीं असमान खालिक गु द मुसकिल कार।

कबीर में देशज शब्दो का भी प्रयोग है, जैसे घूँट, जजाल, बागर, पेड, थोथा आदि। आज की दृष्टि से पजाबी (लोड, बाझ (छोडकर), नाल, लूण, ववेक) राजस्थानी (डागल, अपूठा) आदि के स्थानीय शब्द भी कबीर में काफी है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि उस समय वे स्थानीय थे या नही। 'सीस माँगना' 'निधि पाना' आँटानून मिलना, मूड मुडाना नाच नचाना, मति भोटी होना आदि मुहावरो का भी प्रयोग है। लोक भाषाओ की द्वित्व प्रयोग की प्रवृत्ति भी कबीर में है, जैसे—

'काछि कछू तन दीना'

कबीर के शब्द-समूह पर जो ऊपर विचार किया गया है, वह तो अन्य कवियो जैसा ही है, किन्तु उनकी अपनी विशेषता कुछ और भी है। उन्होने प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयोग भी बहुत किया है। इन प्रतीकात्मक शब्दो के प्रयोग के कारण उनकी भाषा के अत्यन्त सरल होते हुए भी, उनका अर्थ, उनके लिए अत्यन्त कठिन है, जो प्रतीको से परिचित नही हैं। ये प्रतीक कही तो सादृश्यमूलक हैं अर्थात् जिनके ये प्रतीक हैं, उनसे किसी न-किसी दृष्टि से साम्य है, जैसे—

हस=ज्ञानी, सत (नीरक्षीर विवेकी)
अकुर=अहकार (धीरे-धीरे बढ़ने वाला)

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर में 'आछिलो' और 'पारै' को बंगाली माना है। वस्तुतः आज ये धातुएँ बंगला में ही प्रयुक्त होती हैं, किन्तु कबीर के काल में अवधी-भोजपुरी क्षेत्र में भी प्रयुक्त होती थीं। जायसी-तुलसी ने भी 'पारना' (सकना) का प्रयोग किया है। 'आछिलो' से सम्बद्धरूप आछत (रहते हुए) तो आज भी भोजपुरी में प्रयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में कबीर में इन्हें बंगला प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जो हिन्दी-क्षेत्र में अब समाप्त-से हैं। इस दृष्टि से ये दो ही नहीं, अपितु और भी प्रयोग मिल सकते हैं।

शब्द-समूह की दृष्टि से कबीर की भाषा अन्य संत एवं नाथ कवियों की भाँति ही लोक के निकट है। उसमें तद्भव ऐसे भी हैं, जिन्हें पहचानना कठिन हो जाता है, जैसे स्यंघ (सिंह) म्यंत (मित्र), निध्य (निधि) विनान (विज्ञान) आदि। तत्सम शब्द या तो ऐसे हैं, जो तत्सम होते हुए भी अत्यन्त सरल हैं। जैसे नीर, जल, गभीर, उदार, कष्ट, क्रोध, पुर, गगन, मुनि, पावक, काम, मद, लोभ, सज्जन आदि, या फिर ऐसे हैं जो पारिभाषिक या हिन्दू साधना के हैं जैसे मेरु कल्पलतिका, महारस निम्नगा, कुंचिका, कुंडलिनी आदि। स्पष्ट ही संस्कृत को 'कूपजल' तथा भाषा को 'बहता नीर' कहने वाले का झुकाव संस्कृत तत्सम की ओर अधिक नहीं है। अरबी-फारसी शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग कबीर ने किया है। इनमें भी अधिकांश शब्द सरल तथा लोक प्रचलित हैं जैसे साहब, दीवाना,

---

परम्पराओं से प्राप्त पाठ की तुलना में उसे प्रामाणिक माना जाएगा तथा तथा मूलप्रति और कबीर को मूलरचना के अपेक्षाकृत निकट माना जायेगा। उसे देखने पर भी उपर्युक्त निष्कर्षों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वहाँ भी भाषा का मिश्रित रूप ही है। अधिकांश क्रिया रूप ब्रज और खड़ी बोली के हैं तो विभक्तियाँ अवधी की। 'अल प्रत्ययात रूप जो भोजपुरी की विशेषता है सात आठ से अधिक नहीं हैं।

जहाज औरत, हद, दोस्त, गौर, खूब, खर्च, ईमान, खबर आदि। कुछ अरबी-फारसी शब्द कठिन भी हैं जैसे नफर, अहला, अहदम, मुहरका, फिल सुन्नत आदि। कबीर को जहाँ मुसलमानो या मुल्ला मौलवियो को समझाना या डाँटना फटकारना हुआ है, उन्होने अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग बहुत अधिक किया है। जैसे—

भिस्त हुसका दोजगा दुदर दराज दिवाल।
पहनाम परदा ईत आतस जहर जगम जाल।
हम रफत रहबरहु समा में खुर्दा सुमा बिसियार।
हम जिमीं असमान खालिक गुद मुसकिल कार।

कबीर में देशज शब्दो का भी प्रयोग है, जैसे घूँट, जजाल, बागर, पेड, थोथा आदि। आज की दृष्टि से पजाबी (लोड, बाझ (छोडकर), नाल, लूण, ववेक) राजस्थानी (डागल, अपूठा) आदि के स्थानीय शब्द भी कबीर में काफी हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि उस समय वे स्थानीय थे या नही। 'सीस माँगना' 'निधि पाना' आँटानून मिलना, मूड मुडाना नाच नचाना, मति मोटी होना आदि मुहावरो का भी प्रयोग है। लोक भाषाओ की द्वितक प्रयोग की प्रवृत्ति भी कबीर में है, जैसे—

'काछि कछू तन दीना'

कबीर के शब्द-समूह पर जो ऊपर विचार किया गया है, वह तो अन्य कवियो जैसा ही है, किन्तु उनकी अपनी विशेषता कुछ और भी है। उन्होंने प्रतीकात्मक शब्दो का प्रयोग भी बहुत किया है। इन प्रतीकात्मक शब्दो के प्रयोग के कारण उनकी भाषा के अत्यन्त सरल होते हुए भी, उनका अर्थ, उनके लिए अत्यन्त कठिन है, जो प्रतीको से परिचित नही है। ये प्रतीक कही तो सादृश्यमूलक हैं अर्थात् जिनके मे प्रतीक हैं, उनसे किसी-न किसी दृष्टि से साम्य है, जैसे—

हस=ज्ञानी, सत (नीरक्षीर विवेकी)
अकुर=अहकार (धीरे-धीरे बढ़ने वाला)

कंत=ब्रह्म (आत्मा का पति)
कागा=मन (बुरी प्रवृत्ति वाला)
तेल=प्रेम (स्निग्ध)
आग=ज्ञान (प्रकाशयुक्त)
मकड़ी=माया (अपना जाल बुनने वाली)
मृग=मन (चारों ओर दौड़ने वाला)
लड़का=इंद्रियाँ (जो अपना भला-बुरा नहीं जानतीं)
पांडव=इंद्रियाँ (पाँच होने से)
और कहीं-कहीं उनमें कोई बहुत तर्क सम्मत साम्य नहीं है, जैसे—
गंगा=इड़ा
यमुना=पिंगला
सरस्वती=सुषुम्ना
मोती=मन
बेटी=सुबुद्धि
चूल्हा=चित्त
सेज=लौ
भाई=माया
बढ़ई=गुरु
कबीर में कुछ संख्यावाचक प्रतीक भी हैं, जैसे—
चौरासी=अनंत या चौरासीलाख योनियाँ
पाँच=पाँचइंद्रिया
तैंतिसकोटि=देवता
एक=ब्रह्म
दो=आज्ञाचक्र
पाँच=तत्व, इंद्रियाँ

कबीर द्वारा प्रयुक्त ये प्रतिकात्मक शब्द प्राय ऐसे हैं, जो सिद्धो-नाथो की परम्परा से आए हैं। कुछ मुसलमानी परम्पराओ से भी मिले

नात होते है। जैसे चौदहचन्दा=पूर्णिमा। सम्भव है कबीर ने सादृश्य आदि के आधार पर कुछ अपने नये प्रतीक भी बनाए हो। इस दिशा में खोज की आवश्यकता है। यो तो इन प्रतीको के कारण उनकी भाषा में यों ही क्लिष्टता आ गई है, किन्तु यह क्लिष्टता तब और भी बढ जाती है, जब वे एक शब्द को ही कई का प्रतीक बना देते हैं। उदाहरणार्थ 'सुनहा', मन के लिए भी और ससार के लिए। इसी तरह 'कत', जीव, 'ब्रह्म, शरीर तीनो के लिए आया है। 'तरवर', ब्रह्म और प्राण दोनो का प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत से शब्द है।

कबीर की शैली कबीर के व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल है। उसके पीछे उनका अक्खड, मस्तमौला, अटपटा और सत्य को नग्न रूप में कहने वाला एव व्यग्य के बाण छोडकर तिलमिला देने वाला व्यक्तित्व झाँक रहा है। उनकी शैली की यह कटुता दोष न हो कर गुण है। वे यह नही चाहते थे कि उनको सुनने वाला कान में तेल डाल कर पडा रहे। इसीलिए उन्होने अपनी बहुत-सी बातो को इस रूप में कहा है कि सुनने वाला झनझना उठे। उसे उठना ही पडे, सोचना ही पडे, उनकी ललकार के आगे झुकना ही पडे। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—

(क) जो तू बाभन बाभिनि जामा।
और द्वार हो काहे न आया।

(ख) काँकर पाथर जोरि कर मस्जिद लिया चुनाय।
ता चढि मुल्ला बाँग दें, का बहिरा हुआ खुदाय।

(ग) एक बूँद एक मल मूतर एक चाम गूदा।
एक जोति के सब उपजा कौन बाम्हन को न सूदा।

(घ) मन ना रँगायो रँगायो जोगी कपडा।

कबीर की यह तिलमिलाने वाली लट्ठमार शैली वहाँ मिलती है, जहाँ वे अनुचित बातो का खडन करते है। उनकी शैली का दूसरा रूप वहाँ मिलता है जहाँ वे समझाते या उपदेश और नीति की बातें कहते है। ऐसी शैली वहाँ तर्क पूर्ण है। बात कहने के बाद वे काव्यलिंग,

उदाहरण या दृष्टांत आदि अलकारो के सटीक प्रयोग द्वारा उसका एसा समर्थन करते हैं कि श्रोता के मन में बात बैठ ही जाती है—

सत न छाडै सतई, जे कोटिक मिलै असत।
चन्दन भुवगा बैठिया, सीतलता न तजत।

कबीर की तीसरी शैली चौंका देने वाली है। अन्य कवियो की तरह इसके लिए उन्होने असगति या विभावना का प्रयोग तो किया है, किन्तु इस दृष्टि से उससे भी अधिक सफल वे उलटवाँसियो में हैं—

समदर लागी आगि नदिया जरि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि मछी रूषा चढि गई।

या

ठाढा सिंह चरावै गाई।

उनकी अन्योक्तियो में रहस्यात्मक शैली मिलती है—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।
तेरे ही नाव सरोवर पानी।

कबीर की ये प्रमुख शैलियाँ हैं। इनके अतिरिक्त वर्णनात्मक सूत्रात्मक साकेतिक आदि अन्य उन प्राय सभी शैलियो का प्रयोग उन्होने किया है जो सामान्यत अन्य कवियो में पाई जाती हैं।

संकलन

साखी

सत गुरु सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ॥१॥

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिन मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥२॥

राम नाम के पटतरै, देबे को कुछ नाहि।
क्या ले गुरु सतोषिए, हौंस रही मन माँहि ॥३॥

सतगुरु लई कमाण धरि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतर रह्या सरीर ॥४॥

सतगुरु मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंग उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि ॥५॥

हँसे न बोले उनमनी, चचल मेल्हा मारि।
कह कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ॥६॥

पीछे लागा जाइया, लोक बेद के साथि।
आगे थे सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥७॥

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट ॥८॥

कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटे लूण।
जाति - पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौण ॥९॥

जाका गुरु भी अधला चेला खरा निरध।
अधे अधा ठेलिया दून्यू कूप पड़त ॥१०॥

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दून्यूं बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव ॥११॥
चौसठ दीवा जोइ करि, चौदह चन्दा माहिं।
तिहिं घरि किसको चानिणों जिहिं घरि गोविन्द नांहि ॥१२॥
निस अँधियारी कारणें चौरासी लख चन्द।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मन्द ॥१३॥
माया दीपक नर पतंग, भ्रम भ्रम इवैं पडंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥१४॥
सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहें चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाई फूंक ॥१५॥
सतगुर मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी भोल।
पासि बिनठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥१६॥
बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमकि।
भेरा देख्या जरजरा, तब ऊतरि पड़े फरकि ॥१७॥
गुरु गोबिन्द तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥१८॥
निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
कबीर हीरा वणजिया, मानसरोवर तीर ॥१९॥
चौपड़ माँडी चोहटे, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत बिचार ॥२०॥
कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥२१॥
तत तिलक तिहूं लोक मैं, राम नाम निज सार।
जब कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥२२॥
भगति भजन हरि नाँव हैं, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा क्रमना, कबीर सुमिरण सार ॥२३॥
पच संगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मन।

काई सूति कबीर की, पाया राम रतंन ॥२४॥
मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥२५॥
तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥२६॥
कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवे बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैंगा दिन राति ॥२७॥
जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि पये बेकाम ॥२८॥
पहली बुरी कमाइ करि, बाँधी बिष की पोट।
कोटि करम फिल पलक में (जब) आया हरि की ओट ॥२९॥
राम पियारे छांडि करि, करै आन का जाप।
बेस्वा केरा पूत ज्यूं कहै कौन सूं बाप ॥३०॥
जैसे माया मन रमै, यूं जे राम रमाइ।
तौ तारा मडल छांडि करि, जहां के सो तहां जांहि ॥३१॥
लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि।
पीछे ही पछिताहुगे, यह तन जै है छूटि ॥३२॥
लूट सके तो लूटियो, राम नाम भडार।
काल कठ तें गहैगा, रुंधै दसूं दुवार ॥३३॥
लंबा मारग दूरि घर, विकट पथ बहु मार।
कहौ संतो क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥३४॥
गुण गायें गुण नाम कटै रटै न राम वियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुलभजोग ॥३५॥
रात्यूं रूनी बिरहनी, ज्यूं बचौ कूं कुंज।
कबीर अन्तर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥३६॥
अम्बर कुंजा कुरलियां, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थे गोविन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥३७॥

वासरि सुख नाँ रैंणि सुख, ना सुख सुपिनैं माँहि ।
कबीर बिछुरा राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह ॥३८॥
बिरहनि उभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबरू मिलैंगे आइ ॥३९॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिय तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाही विश्राम ॥४०॥
बिरहिन उठै भी पड़े, दरसन कारनि राम ।
मूवा पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥४१॥
मूवा पीछै जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर घाटा लोह सब, तब पारस कौंणें काम ॥४२॥
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करूं करम की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥४३॥
यह तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवा जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करैं, बरस बुझावैं अग्गि ॥४४॥
कबीर पीर पिरावनी, पंजर पीड न जाइ ।
एक न पीड परीति की, रही कलेजा छाइ ॥४५॥
चोट सताणी बिरह की सब तन जर जर होइ ।
मारणहारा जाँणिहै कै जिहि लागी सोइ ॥४६॥
जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि सर अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊ नहीं ॥४७॥
बिरह भुवगन तन बसै, मन्त्र न लागै कोइ ।
राम बियोगी ना जीवै जिवै तो बौरा होइ ॥४८॥
बिरह भुवगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधु अंग न मोड़ही, ज्यूँ भावै त्यूँ खाय ॥४९॥
सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥५०॥
बिरह बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान ।

जिहि घटि बिरह न संचरै सो घट सदा मसान ॥५१॥
अंषड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥५२॥
इस तन का दीवा करौं बाती मेल्यूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥५३॥
नैंना नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरू मिलहुगे राम ॥५४॥
सोई आंसू सजणां सोई लोक बिदांहि।
जे लोइण लोहीं चुवैं, तो जांणं हत हियांहि ॥५५॥
कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोया क्यूँ पाइये, प्रेम पियारा मित्त ॥५६॥
जो रोऊँ तो बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूँ घुणं काठहि खाइ ॥५७॥
हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हँसेही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ ॥५८॥
पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ॥५९॥
डारी खांड पटकि करि, अन्तरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिल गया, पिता पियारे जाइ ॥६०॥
के बिरहणि कु मींच दे के आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपैं सह्या न जाइ ॥६१॥
हौं बिरह की लकड़ी, समझि समझि धूँधाऊँ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाऊँ ॥६२
बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल हरि जलै, संतौ कहां बुझाऊँ ॥६३॥
कबीर तनमन यौं जर्यो, बिरह अगनि सूँ लागि।
मृतक पीड न जांणई, जांणैंगी यहु आगि ॥६४॥

फाड़ि फुटो ला धज करौं, कामलड़ी पहराऊँ ।
जिह जिहि भेषां हरि मिलैं सोइ सोई भेष कराऊँ ॥६५॥
भेला पाया श्रम सौं, भौसागर के मांति ।
जे छाड़ौं तौ डूबिहौं, गहौं तौ डसिये बांह ॥६६॥
रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगें सूरि ॥६७॥
दीपक पावक आंणिया, तेल भी आण्यां संग ।
तीनूं मिलिकरि जोइया, [तब] उडि उडि पड़े पतंग ॥६८॥
हिरदा भीतरि दौं बलै, धुवां न प्रगट होइ ।
जाको लागी सो लखै, के जिहि लाई सोइ ॥६९॥
झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥७०॥
अगनि जु लागी नीर में, कदू जलिया झारि ।
उत्तर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥७१॥
दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाइ ॥७२॥
गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि ।
तिणका बपुड़ा ऊबर्‌या, गलि पूरे कै लागि ॥७३॥
समन्दर लागि आगि, नदियां जलि कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि, मछी रूष्यां चढ़ि गई ॥७४॥
पाणी माहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि ।
बहती सलिता रहि गई, मछ रहे जल त्यागि ॥७५॥
कबीर तेल अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुग दीठा तेणि ॥७६॥
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देष्यां ही परवान ॥७७॥
हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरन्तर बास ।

कवलज फूल्या फूल बिन, को निरषे निज दास ॥७८॥
कबीर मन मधकर भया, रह्या निरन्तर बास।
कवलज फूल्या, जलह बिन, को देखै निजदास ॥७९॥
सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूँद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन्न सिषर गढ़ माँहि ॥८०॥
घट माहैं औघट लह्या, औघट माँहै घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥८१॥
सूर समाणा चंद में, दहूँ किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥८२॥
हदि छाडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥८३॥
मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणां चांदिणा, तहां अलख निरंजन राइ ॥८४॥
मन लागा उनमन्न सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूँण बिलगा पाणियाँ पाणी लूण बिलग ॥८५॥
पाणी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥८६॥
चौहटै च्यंता मणि चढी, हाडी मारत हाथि।
मीरा मुझ सूँ मिहिर करि, इबमिलौं न काहू साथि ॥८७॥
सुरति समाणी निरत मै, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार ॥८८॥
सुरति समाणी निरत मैं, अजपा माँहै जाप।
लेख समाणा अलेख मैं, यूँ आपा माहैं आप ॥८९॥
आक भरे भरि भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूँ मिलैं, जब लग दोइ सरीर ॥९०॥
थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवनराइ ॥९१॥

तत पाया तन बिसरया, जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ॥९२॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं।
सब अँधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या माहिं ॥९३॥
जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥९४॥
जा कारणि मैं जाइ था सोई पाई, ठौर।
सोई फिर आपण भया, जासू कहता और ॥९५॥
मानसरोवर सुभर जल, हँसा केलि कराहिं।
मुक्ताहल मुकता चुगैं, अब उडि अनत न जाहिं ॥९६॥
गगन गरजि अमृत चवैं, कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास ॥९७॥
नींव बिहूणा देहुरा, देह बिहूणा देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करे अलख की सेव ॥९८॥
देवल माहै देहुरी, तिल जे है बिसतार।
माहै पाती माहि जल, माहै पूजण हार ॥९९॥
कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर ॥१००॥
आकासे मुख औंधा कुँवा, पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥१०१॥
कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१०२॥
राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुर्लभ है, मांगै सीस कलाल ॥१०३॥
हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैंमता घूमत रहै, नाहि तन की सार ॥१०४॥
जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मल न्हाइ।

देवल बूड़ा कलस सूं, पषि तिसाई जाइ ॥१०५॥
सबै रसाइण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट में संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥१०६॥
मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हान।
याहत थाह न आव ही, तूं पूरा रहिमान ॥१०७॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥१०८॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समद समाना बूंद में, सो कत हेरचा जाइ ॥१०९॥
भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूं तो झूठ।
मैं का जाणौं रामकूं, नैंनू कबहुं न दीठ ॥११०॥
दीठा है तो कस कहूं, कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरिखि हरखि गुण गाइ ॥१११॥
पहुंचेंगे तब कहैंगे, अमडैंगे उस ठाइ।
अजहूं बेरा समद मैं, बोलि बिगूचैं काइ ॥११२॥
सुरति ढीकुली लै जल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कंवल कुवां मैं प्रेम रस, पीवै वारबार ॥११३॥
कबीर प्रीतडी तौ तुझसौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हंसि बोलौं और सौं, तौ नील रंगाऊं दंत ॥११४॥
नैंना अंतर आव तूं, ज्यूं हौं नैंन झंपेऊं।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देऊं ॥११५॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥११६॥
कबीर सीप समद की, रटै, पियास पियास।
समदहि तिणका बरि गिणै, स्वाति बूंद की आस ॥११७॥
दोजग तौ हम अंगियाँ, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ ॥११८॥

कबीर एक न जांणियाँ, तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥११९॥
जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेवा।
कहै कबीर वै क्यूं मिलें, निहकामी निज देव ॥१२०॥
जे मन लागै एक सूं, तौ निरवाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि बाजणा, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२१॥
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ ॥१२२॥
उस सम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिब्रता नांगी रहै तौ उस ही पुरुस कौ लाज ॥१२३॥
जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि ॥१२४॥
सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़ें, बैसण लागे काग ॥१२५॥
कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखड भये पलास ॥१२६॥
कबीर कहा गरबियौ, देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूं कांचली भुवंग ॥१२७॥
कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
काल्हि परयूं भ्वैं लेटणा, ऊपरि जामै घास ॥१२८॥
यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥१२९॥
बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियै खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति ॥१३०॥
कबीर मंदिर ढहि पड़्या, सैंट भई सैंवार।
कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजीवार ॥१३१॥
कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैंवार।

करि बिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यू ढहै न भूगी धार ॥१३२॥
कबीर पूलि सबेलि करि, पुडीज बांधी एह।
दिवस चारि का पेषणां, अत षेह की षेह ॥१३३॥
कबीर जे धधे, तो धूलि बिन धन्धे धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिन धन्धे मैं ध्याया नहीं ॥१३४॥
कहा कीयौ हम आइ करि, कहा कहंगे जाइ।
इत के भये न उत के, चाले मूल गँवाइ ॥१३५॥
कबीर हरि की भगति बिन, धिग जीमण ससार।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥१३६॥
जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि।
ते बिधिना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि ॥१३७॥
राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुम्ब।
धन्धा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब ॥१३८॥
मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झडि पड्या, बहुरि न लागै डार ॥१३९॥
कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोंज।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जनम की मौज ॥१४०॥
यहु तन कांचा कुभ है, चोट चहूं दिसि खाइ।
एक राम के नांव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ ॥१४१॥
कांची कारी जिनि करै, दिन दिन वधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, यही ओषधि साधि ॥१४२॥
सभा एक गइद दोई, क्यूं करि बधसि बाढि।
मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि नियारि ॥१४३॥
दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि।
पांइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ॥१४४॥
कुल खोयां कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटिलै, सब कुल रह्या समाइ ॥१४५॥

उजल कपड़ा पहरि करि, पानि सुपारि खांहि।
एकै हरि का नांव बिन, बंधे जमपुरि जांहि ॥१४६॥
इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किरांणां बेचि करि, उठिज लागे बाट ॥१४७॥
नांहां काती चित दे, महंगे मोलि बिकाइ।
गाहक ताजा राम है और न नेड़ा आइ ॥१४
मैं मैं बड़ी बलाइ है सकै तो निकसो भाजि।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥१४
कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवण हार।
हलके हलके तिर गये, बूड़े तिनि सिर भार ॥१५
मन कमतै न चालिये, छांडि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपठा आंणि ॥१५
कबीर मोरू मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि लुणत कहा पछिताइ ॥१५२
इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपणां, तो पर सिरिज अगीठ ॥१५३
मन जाणत सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै ॥१५४
मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥१५५
एकज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तो भी रंग न जाइ ॥१५६॥
पाणी ही तैं पातला, धूवां ही तैं झीण।
पवनां बेगि उतावली, सो दोसत कबीरैं कीन्ह ॥१५७॥
कबीर मन विकटै पड़या, गया स्वाद कै साथि।
गल का खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि ॥१५८॥
मंमता मन मारि रे, घट हीं मांहैं घेरि।

जबहीं चाले पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि ॥१५९॥
मैं मंता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीसि ॥१६०॥
कागद केरी नांव री, पांणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसैं तिरूँ, पंच कुसंगी संग ॥१६१॥
काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि।
कोई एक अखिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥१६२॥
कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास।
उहां ही तैं गिरि पड़्या, मन माया के पास ॥१६३॥
भगति दुवारा सकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तो मैंगल ह्वै रह्यो, क्यूँ करि सकै समाइ ॥१६४॥
काया देवल मन धजा, विषै ल्हरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्बस जाइ ॥१६५॥
मनह मनोरथ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पाणी मैं घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥१६६॥
उतथैं कोई न आवई, जाकूँ बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥१६७॥
जाइबे को जागा नहीं, करिबे कौं नहीं ठौर।
कहै कबीरा संत हौ, अविगति की गति और ॥१६८॥
जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैल ॥१६९॥
जहां न चींटी चढ़ि सकै, राइ न ठहराइ।
मन पवन का गमि नहीं, तहां पहुँचे जाइ ॥१७०॥
कबीर मारग अगम है सब मुनि जन बैठे थाकि।
तहां कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि ॥१७१॥
सुर नर थाके मुनिजना, जहां न कोइ जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहां रहे घर छाइ ॥१७२॥

प्राण पड़ को ताड़ि घरं, मूवा कहै सब कोइ।
जीव छतां जां मं मरं, सूपिम लखं न कोइ ॥१७३॥
कबीर माया पापणीं, हरि सूं करं हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥१७४॥
जाणों जे हरि कों भजों, मो मति मोटी आस।
हरि बिचि घालं अतरा, माया बड़ी बिसास ॥१७५॥
कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाड।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तो करती भाड ॥१७६॥
माया दासी संत की, ऊंभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥१७७॥
माया तजी तो का भया मानि तजा नहीं जाइ।
नि बड़े मुमुनियर मिले, मानि सबनि कों खाइ ॥१७८॥
रज बीरज की कली, ता पर साज्या रूप।
राम नाम बिन बूडि है, कनक कामणी कूप। १७९॥
माया हमसों यों कह्या, तू मत देर पूठि।
और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥१८०॥
माया को झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि।
कहुधों किहि बिधि राखिन, रूई पलेटी आगि ॥१८१॥
इही उदर के कारण जग जाच्यो निसजाम।
स्वामी पणों जु सिर चढ़यों सरया नए को काम ॥१८२॥
स्वामी हूंणा सोहरा दोद्धा हूंणा दास।
गाडर आणीं ऊन कूं, बाधी चरे कपास ॥१८३॥
कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी पटाइ।
राज दुवारा यों फिरे, ज्यूं हरि हरि गाइ ॥१८४॥
चारिउ बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढ खेत ॥१८५॥
ब्राह्मण गुरु जगत का साधु का गुरु नाहिं।

उरमि पुरमि करि मरि रह्या, बारिख बेरी मार्हि ॥१८६॥
साचित सण का जेवड़ा, भींगा सू पठ ठाई।
बोइ अखिर गुरु बाहिरा, बोम्या जमपुरि जाई ॥१८७॥
पाडोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हाँणि।
पंडित भये सरावगी, पाणी पीवें छाँणि ॥१८८॥
पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाहि।
औरूँ कौ प्रमोघता, गया मुहर का माँहि ॥१८९॥
चतुराई सूव पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाँहि ॥१९०॥
रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत।
औरों कौं प्रमोधतां, मुख में पड़िया रेत ॥१९१॥
मोर तोर की जेवडी, बलि बध्या ससार।
काँसि कडूँ बासुत कलित, दाझण बारवार ॥१९२॥
कथणीं कथी तो क्या भया, ज करणीं ना ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूँ, देषत ही ढहि जाइ ॥१९३॥
पद गाएँ मन हरषियां, साषी कह्या आनन्द।
सोतत नांव न जाँणियाँ, गल में पड़िया फंध ॥१९४॥
करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
बाणैं बूझै कुछ नहीं, योंही आंधा रूंड ॥१९५॥
कबीर पढ़िया दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ।
बावन आषिर सोधि करि, ररैं ममैं चितलाइ ॥१९६॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥१९७॥
नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरै निहकाम ॥१९८॥
एक कनक अरु कामनी, विषफल कीएउ पाइ।
देखें ही थैं विष चढ़ै, खायें सु मरि जाइ ॥१९९॥

सहज सहज सबको कहै, सहजन चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥२००॥
सहज सहज सबका कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥२०१॥
रोजा करि जिय है कहै, कहते हैं ज हलाल।
जब दफ्तर देखेगा दई, तब ह्वैगा कौण हवाल ॥२०२॥
सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ ॥२०३॥
खूब खाड है खीचडी, माहि पडै टुक लूण।
हेडा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौण ॥२०४॥
पाहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसैं जे रहे, ते बूडे काली धार ॥२०५॥
जेती देखौं आतमा, तेता सालिग राम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सू काम ॥२०६॥
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि।
दसवा द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछाणि ॥२०७॥
कर सेती माला जपैं हिरदै बहै डडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥२०८॥
कर पकरैं अँगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिराया हरि मिलै, सो भया काठ की ठौर ॥२०९॥
कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावैं आपणा, कहा फिरावै मोहि ॥२१०॥
केसौ कहा बिगाडिया, जे मूडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूडिए, जामैं बिषै बिकार ॥२११॥
बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक ॥२१२॥
तन को जोगी सब करैं मन कौं बिरला कोइ।

सब सिधि सहजें पाइए, जे मन जोगी होइ ॥२१३॥
सांईं सेंती सांच चलि, औरा सूं सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ ॥२१४॥
निरमल बूंद आकास की पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल विनंठा मानवी, बिन संगति मठ छार ॥२१५॥
मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भवंग मुषी, एक बूंद तिहु भाइ ॥२१६॥
हरिजन सेती रूसणां, संसारी सूं हेत।
ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत ॥२१७॥
देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग।
विपति पड्या यूं छाड़सी, ज्यूं कंचुली भवंग ॥२१८॥
यहु मन दीजे तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ।
सिर ऊपरि आराम है, तऊ न दूजा होइ ॥२१९॥
उज्जवल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान।
धोरैं बैठि चपेटसी, यूं ले बूडै ग्यांन ॥२२०॥
जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जाणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊंडै देसी आंणि ॥२२१॥
मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥२२२॥
मेरे संगी दोइ जणां, एक बैष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥२२३॥
कबीर चन्दन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥२२४॥
निरबैरी निहकांमता, सांईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥२२५॥
संत न छाँड़ै संतई, जे कोटिक मिलै असंत।
चंदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥२२६॥

कबीर हरि का भायता, झीणा पजर तास।
रेणि न आवै नींदडी, अगि न चढ़ई मास ॥२२७॥
काम मिलावै राम कूं, जे कोई जाणै राखि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साखि ॥२२८॥
सब घटि मेरा साइया, सूनों सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का है सखी, जिहि घटि परगट होइ ॥२२९॥
कबीर धनि ते सुन्दरी जिनि जाया वैसनौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥२३०॥
कबीर कुल तो सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥२३१॥
कबीर मधिअग जे को रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुह दुह अग सू लागि करि, डूबत है ससार ॥२३२॥
कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है, दोउ कहियें आगि ॥२३३॥
अनल अकासा घर किया, मधि निरतर बास।
बसुधा ब्योम बिरकत रहै, बिनठा हर बिसवास ॥२३४॥
हिन्दू मूये राम कहि, मुसल्मान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ ॥२३५॥
कबीर हरदी पियरी, चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यू मिले, दून्यू बरन गँवाइ ॥२३३॥
काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥२३७॥
धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूँबडा अबध।
षट दरसन ससै पड्या, अरु चौरासी सिध ॥२३८॥
पीर रूप हरि नाव है, नीर आन ब्योहार।
हस रूप कोइ साध है, तत का जानण हार ॥२३९॥
कबीर औगुण ना गहै, गुण ही कौं लै बीनि।

घट घट मद्धु के मधुप ज्यूं, पर-आत्म ले चीन्हि ॥२४०॥
बसुधा बन बहु भांति है, फूल्यो फल्यो अगाध।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, विषम कहै किहि साध ॥२४१॥
राम नाम सबको कहै, कहिये बहुत विचार।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिगहार ॥२४२॥
आगि कह्या दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लग भेद न जाणिये रांम कह्या तौ कोइ ॥२४३॥
कबीर सोचि विचारिया, दूजा कोई नाहिं।
आपा पर जब चीन्हियां, तब उलटि समाना मांहि ॥२४४॥
कबीर ससा दूरि करि, जामण मरण भरम।
पंचतत ततहि मिले, सुरति न समाना मंन ॥२४५॥
ऐसी बाणी बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥२४६॥
रांम नाम करि बोंहडा, बाही बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पडै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥२४७॥
करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।
मासा घटै न तिल बधै, जौ कोटिक करो उपाइ ॥२४८॥
जाकौ जेता निरमया, ताको तेता होइ।
रती घटै न तिल बधै, जौ सिर कूटै कोइ ॥२४९॥
सत न बांधै गाठडी, पेट समाता लेइ।
साईं सूं सनमुख रहै, जहां मांगै तहां देइ ॥२५०॥
पाइल पजर मन भवर, अरथ अनूपम बास।
राम नाम सींच्या अमी, फल लागा बेसास ॥२५१॥
पद गायें लैलीन ह्वै, कटी न संसै पास।
सबै पिछोडे थोथरे, एक बिना बेसास ॥२५२॥
गायण हीं मे रोज है, रोवण हीं मे राग।
इक बैरागी ग्रिह मैं, इक गृहीं मैं बैराग ॥२५३॥

सपति माँहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल माड में रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ ॥२५४॥
मेरे मन में पडि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटक पषाण, ज्यू, मिल्या न दूजी बार ॥२५५॥
मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।
जौपरि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ॥२५६॥
जाता है सो जाण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यू घणें मिलेंगे आइ ॥२५७॥
सतगठी कोपीन है, साध न मानें सक।
राम अमल माता रहै, गिणें इन्द्र कौ रक ॥२५८॥
दावै दाझण होत है, निरदावै निसक।
जे नर निरदावै रहै, तेगिणें इद्र को रक ॥२५९॥
कबीर किया कछू न होत है, अन कीया सब होइ।
जे किया कुछ होत है, तो करता औरे कोइ ॥२६०॥
सात समद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥२६१॥
अबरन कौं का बरनिय, मो पैं लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥२६२॥
जदि का माइ जनमियाँ, कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली म फिरौं, पातौं पातौं दख ॥२६३॥
साईं सू सय होत है बदे थैं कुछ नाँहि।
राई थैं परवत करै, परवत राई माँहि ॥२६४॥
अणी सुहेली सेल की, पडतां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुर मैं दास ॥२६५॥
सीतलता तब जाणिय, समिता रहै समाइ।
पप छाड़ै निरपप रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥२६६॥
कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति।

बाहरि भीतरि भरि रह्या, तायें छूटि भरति ॥२६७॥
सती सतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थें, सहज सील मतसार ॥२६८॥
सतगुर साचा सूरिवा सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पडया कलेजे छेक ॥२६९॥
हरि रस जे जन बधिया, सतगुण सीं गणि नाहि।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे माहि ॥२७०॥
ज्यू ज्यू हरि गुण सांभलू, त्यू त्यू लागै तीर।
लाग थे भागा नहीं, साहण हार कबीर ॥२७१॥
जीवत मृतक ह्वै रहै, तज जगत की आस।
तव हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास ॥२७२॥
कबीर मरि मरि मडहल रह्या, तब कोइ न बूझै सार।
हरि आदर आगै लिया, ज्यू गउ बछ की लार ॥२७३॥
घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचभा देखिया, मडा काल कौं खाइ ॥२७४॥
मन मरया ममता मुई, अह गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥२७५॥
आपा मटया हरि मिलै, हरि मटयां सब जाइ।
अकथ कहाणीं प्रेम की, कह्या न को पत्याइ ॥२७६॥
दीन गरीबी दीन कौं दूदर कौं अभिमान।
दुदर दिल विष सू भरी, दीन गरीबी राम ॥२७७॥
कबीर तहां न जाइए जहां कपट का हेत।
जालू कली कनीर की, तन रातौ मन सेत ॥२७८॥
ऐसा कोइ ना मिलै, हमकौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करै, ले उतारि मैदानि ॥२७९॥
ऐसा कोइ ना मिलै, राम भगति का गीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यू, सुनैं बधिक का गीत ॥२८०॥

ऐसा कोइ नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पचूं लरिका पटकि करि, रहै राम ल्यौ लाइ ॥२८१॥
ऐसा कोइ नां मिलै, जासू कहूँ निसक।
जासू हिरदै की कहूँ, सो फिरि मांडै कक ॥२८२॥
तीनि सनेही बहु मिलै, चौथे मिलै न कोइ।
सबै पियारे राम के, बैठे परबसि होइ ॥२८३॥
हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराडा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि ॥२८४॥
कमोदनी जल हरि बसै, चदा बसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥२८५॥
जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छाँडि न जाइ ॥२८६॥
काइर हुवां न छूटिये कछु सूरा तन साहि।
भरम भल का दूरि करि, सुमिरण सेल सबाहि ॥२८७॥
कबीर सोई सूरिवाँ, मन सूँ मांडै झूझ।
पच पयादा पाडि ले, दूरि करै सब दूज ॥२७८॥
सूरा झूझै गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यौं बिन सूरिया, भला न कहिसी कोइ ॥२८९॥
कबीर आरणि पैसि करि, पीछैं रहै सुसूर।
साईं सूँ साचा भया, रहसी सदा हुजूर ॥२९०॥
गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानै घाव।
खत बुहारया सूरिवै, मुझ मरणे का चाव ॥२९१॥
खत न छाडै सूरिवाँ, झूझै द्वै दल मांहि।
आसा जीवन मरण की मन में आणै नाहि ॥२९२॥
अब तौ ऐसी है पडी, मनकारद चित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यधौरा लीन्ह ॥२९३॥
कायर बहुत पमांवहीं बहकि न बोलै सर।

काम पड्या ही जाणिये, किसके मुख परि नूर ॥२९४॥
ऊँचा विरष अकासि फल, पयी मूए झूरि।
बहुत सयाने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ॥२९५॥
कबीर यहु घर प्रेम का, खाली का घर नाँहि।
सीस उतारैं हाथि करि, सो पैसे घर माहि ॥२९६॥
प्रेम न खेती नींपजें, प्रेम न हाटि विकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२९७॥
झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणा कालका, कुछ मुख में कुछ गोद ॥२९८॥
बौं की दाधी लडकी, ठाढ़ी करे पुकार।
मति बसि पडौं लुहार कै, जालै दूजी बार ॥२९९॥
जो ऊग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियाँ सो ढहि पडै, जो आया सो जाइ ॥३००॥
पाणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिना छिप जाहिगे, तारे ज्यूँ परभाति ॥३०१॥
कबीर यहु जग कुछ नहीं, खिन खारा खिन मीठ।
कालिह जु बैठा माडियाँ, आज मसाणा दीठ ॥३०२॥
कबीर जंत्र न बाजई, टूट गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चलै बजावण हार ॥३०३॥
पयी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बाँध्या पूठि।
मरणां मुँह आगै खड़ा, जीवण का सब झूठ ॥३०४॥
दरियाँ बीती बल गया, बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुडै, कर छिट क्यां मत ठौर ॥३०५॥
कबीर जोगी बनि बस्या, खणि खाये कंदमूल।
नाँ जाणों किस जडी थैं, अमर भये असथूल ॥३०६॥
तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलत।
सीतल छाया गहर फल, पयी केलि करत ॥३०७॥

पाइ पदारथ पेलि करि, ककर लीया हाथि।
जोडी बिछुडी हस की, पड्या बगा के साथि ॥३०८॥
एक अचभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परिषण हारे बाहिरा, कौडी बदलै जाइ ॥३०९॥
कबीर सुपनै हरि मिल्या, सूता लिया जगाइ।
आखि न मीचौं डरपता, मति सुपना ह्वै जाइ ॥३१०॥
कबीर अब तौ ऐसा भया, निरमोलिक निज नाउ।
पहली काच कबीर सा, फिरता ठांवै ठाउ ॥३११॥
इस मन कौं मैदा करौं, नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि ॥३१२॥
कस्तूरी कुडलि बसै, मृग ढूंढै बन माहि।
ऐसै घटि घटि राम है, दुनिया देखै नाहि ॥३१३॥
कबीर खोजी राम का, गया जु सिंघल दीप।
राम तौ घट भीतर रमि रह्या, जौ आवै परतीत ३१४॥
लोग बिचारा नींदई, जिनह न पाया ज्ञान।
राम नाव राता रहै, तिनहुं न भावै आन ॥३१५॥
अब तौ ऐसी ह्वै पडी, ना तूं बडी न बलि।
जालण आणी लाकडी, ऊठी कूंपल मेल्हि ॥३१६॥

पद

१

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती ।
रामदेव मोरे पाहुँनैं आये, मैं जौवन मैं मदमाती ।।
शरीर सरोवर बेदी करि हूँ, ब्रह्मावेद उचार ।
रामदेव संगि भाँवरि लै हूँ, धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी ।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी ।।

२

मन रे मन हीं उलटि समाना ।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं, नहीं तर थो बेगाना ।।टेक।।
नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना ।
औलौ ठीका चढ़्या बलीं है, जिनि पीया तिन माना ।।
उलटे पवन चक्र षट बेधा, सुंनि सुरति लै लागी
अमर न मरैं मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ।।
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बिबेकी ।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी ।।

३

चरषा जिनि जरै ।

कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ॥टेक॥

जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर में आप ।

एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप ॥

बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्यम ले जाहि ।

जब लग बर पावै नहीं, तब लग तूं हो ब्याहि ॥

सुबधी के घरि लुबधी आयौ, आन बहू के भाई ।

चूल्हे अगनि बताइ करि, फल सौ दीयौ उठाइ ॥

सब जगही मर जाइयौ, एक बड़इया जिनि मरै,

सब रांडनि कौ साथ, चरषा को धरै ॥

कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जोया पदहि विचारै ।

पहले परचे गुर मिलै तौ पीछै सतगुर तारै ॥

४

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनें देसा

इन पंचन मिलि लूटी हूं, कुसंग आहि बदेसा ॥टेक॥

गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहाना ।

सातौं बिरही मेरे नीपजैं, पंचू मोर किसानां ॥

कह कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई ।

सहज भाई जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई ।

५

संतौ भाई आई ग्यान की आंधी रे ।

भ्रम की टाटी सबै उडांणी, माया रहै न बांधी ॥टेक॥

हित चत की द्वै थूनीं गिरानी, मोह बलींडा तूटा ।

त्रिस्नां छानि परिघर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ॥

जोग जुगति करि संतौ बांधी, निरचू चुवै न पांणी ।

कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ॥

आंधो पीछे जौजल बूंठा, प्रेम हरीजन भींनो ।
कह कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम षीनां ॥

६

मन रे जागत रहिये भाई ।
गाफिल होइ बसत मत सोवै चोर मुसे घर जाई ॥टेक॥
षटचक्र की कनक कोठडी, बस्त भाव है सोई ।
ताला कुंची कुलफ दे लागे, उघडत बार न होई ॥
पच पहरवा सोइ गये हैं, बसतें जागण लागी ।
जुरा मरण व्यापै कुछ नाहीं, गगन मडल लै लागी ॥
करत बिचार मनहीं मन उपजी, ना कहीं गया न आया ।
कहै कबीर ससार सब छूटा, राम रतन धन पाया ॥

७

चलन चलन सबको कहत है, ना जानौं बैकुंठ कहाँ है ॥टेक॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जानैं, बातनि ही बैकुंठ बषानैं ॥
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहें सुनें कैसे पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये ।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि ॥

८

दास रार्मोहे जानि है रे, और न जानै कोइ ॥टेक॥
काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन माहि बिनान ।
जिन लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवान ॥
बहुत भगति मो सागरा, नावां विधि नाना भाव ।
जिहि हिरदै श्री हरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाउँ ॥
दरसन सभि का कीजिए, जो गुन नहीं होत समान ।
सींधव नीर कबीर मिल्यो है, फटक न मिलै परवान ॥

९

सातौ धागा टूटा गगन विनस गया, सबदजु कहाँ समाई ।

ए सखा मोहि निस दिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ॥टेक॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नाहीं, पंचतत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए गुण कहाँ समाही॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियाँ, रचनहार पुनि नाहीं।
जोवन हार अतीत सदा संगि, ये गुण तहां समाही॥
टूटे बँधै बँधै पुनि टूटे, जब तब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अबको सेवग, को काके बिसवासा॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जो धागा उनमाना।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समानां॥

१०

पांडे कौन कुमति तोहि लागि,
तू रांम न जपहि अभागी ॥टेक॥
बेद पुरान पढत अस पाडे, खर चदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़ै मुखि छारा॥
बेद पढ़्या का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रामा।
जन्म मरन थैं तौ तू छूटै सुफल हूँहि सब कामा॥
जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, सुखदेव पूछो जाई॥
नारद कहै ब्यास यौं भाषै सुखदेव पूछो जाइ॥
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रामल्यौं लाई॥

११

पंडित बाद बदते झूठा।
राम कह्यां दुनिया गति पावै, खांड कह्यां मुख मीठा ॥टेक॥
पावक कहया पाव जे दाझैं, जल कहि त्रिखा बुझाई।
भोजन कहया भूष जे भाजै, तो सब कोई तिरि जाई॥
नर कै साथि सूवा हरि बोलै हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतै आनै॥
साची प्रीति विषय माया सूं, हरि भगतन सूं हासी।

कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ, जमपुर जासी ॥

१२

कथत बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई ॥टेक॥
जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझ रे ग्यानी ग्यान बिचार॥
देही माटी बोलै पवना बूझि रे ग्यानी मूवा स कौनां।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मुवा जो बोलणहार॥
जिस कारनि तटि तीरथि जाही, रतन पदारथ घट ही माहीं।
पढि पढि पंडित बेद बषाणै, भीतर हूती बसत न जाणै॥
हूं न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नर्जरि न आया॥

१३

हम न मरैं मरिहै संसारा, हमकूं मिल्या जियावन हारा॥टेक॥
अब न मरौं मरनै मन माना, तेई मूए जिनि राम न जाना।
साकत मरैं संत जन जीवैं, भरि भरि राम रसायन पीवैं॥
हरि मरि हे तौ हम हूं मरि हैं, हरि न मरै हम काहे कू मरि हैं।
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा॥

१४

कौन मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौने गति पाई॥टेक॥
पंचतत अविगत थैं उतपना, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाना, रेख रही नहीं आसा॥
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहर भीतर पानीं।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानीं॥
आदै गगनां अंतै गगना, मध्यें गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई।

१५

जग तूं सत तोहि कोई न जान।

लोग कहै सब आनहिं आन ॥टेक॥
चारि वेद चहूँ मत का विचार, इहि भूमि भूलि पच्यो ससार ॥
सुरति सुम्हति दोइको बिसवास, बाझि पच्यौं सब आसा पास ॥
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरौ धक्का मैं काक्र ।
जिहि तुम्ह तारौ सोई पैं तिरई, कहैं कबीर नातर बांध्यौ भरई ॥,

१६

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब ।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो ।
कोई कहो कबीर कोई कहो रामराई हो ॥टेक॥
ना हम बार बूढ नाहीं हम, ना हमरैं चिलकाई हो ।
पाए न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ सहज रहूँ, हरिआई हो ॥
बोढन हमरैं एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो ।
जुलहैं तनि बुनि पान न पावल, फारि बुनिदस ठाईं हो ॥
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारो नाउ रामराई हो
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ॥

१७

लोका जानि न भूलो भाई ।
खालिक खल्क खलक मैं खालिक सब घट रह्यो समाई ॥टेक॥
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा ।
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ॥
ता अला की गति नहीं जानीं, गुरि गुड दीया मीठा ।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा ॥

१८

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो ।
सो बैकुंठ कहौ धू कैसा, करि पसाव मोहि दैहो ॥टेक॥
जो मेरे जीव दोइ जानत हौ, तो मोहि मुकति बताओ ।
एक मेक रमि रह्या सबनि मैं, तो काहे भरमावो ॥

तारण तिरण जबं लग कहिये, तब लग तत न जानो ।
एक राम देख्या सब हिन में कहै कबीर मन माना ॥

१९

ऐसा भेद बिगूचन भारी ।
बेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौंन पुरिष कौन नारी ॥टेक॥
एप बूंद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा ।
एक जोति थैं सब उतपना, कौंन बाम्हन कौन सूदा ॥
माटी का प्यड सहजि उतपना, नादरू ब्यद समाना ।
बिनसि गया थै का नाव धरि हौं, पढि पुनि भ्रम जाना ॥
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सतगुन हरि है सोई ।
कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ॥

२०

हमारैं राम रहीम करीमा केसो, अहल राम सति सोई ।
बिसमिल मेट बिसभर एकै और न दूजा कोई ॥टेक॥
इनकै काजी मुला पीर पैगम्बर, रोजा पाछिम निवाजा ।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारस गंग दिवाजा ॥
तरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूठा राम खुदाई ।
जहा मसीति देहुरा नाही तहा काकी ठकुराई ॥
हिन्दू तुरक दोऊ रहै तूटी फूटी अरू कन राई ।
अरध उरध दसहूं दिस जित तित, पूरि रह्या रान राई ॥
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी रहि चलि भाई ।
हिन्दू तुरक का करता एकै, तागति लखी न जाई ।

२१

काहेरी नलनी तू कुमिलानी
तेरैं ही नालि सरोवर पानी ॥टक॥
जल मे उतपति जल मे बास, जल मे नलनी तोर निवास ॥
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोरि हेतु कहु कासनि लागि ॥

कहु कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान ।

२२

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन मैं दुनीं न देखैं, चेतन चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै, पीवै महारस मीठा ॥
परगट कंथा माहें, जोगी, दिल मैं दरपन जोवै ।
सहस इकीस छसै धागा, निहचल नाकै पोवै ॥
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।
कहु कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥

२३

काहे रे मन दह दिसि धावै,
विषिया संग संतोष न पावै ॥टेक॥
जहाँ जहाँ कलपै तहाँ तहाँ बंधना,
रतन को थाल कियौ तैं रंधना ॥
जो पै सुख पईयत इन माहीं,
तौ राज छाड़ि कत बन कौं जाहीं ॥
आनंद सहत तजौ विष नारी,
अब क्या झीषै पतित भिषारी ॥
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि,
तजि बिषिया भजि चरन मुरारि ॥

२४

साईं मेरे साजि दई एक डोली,
हस्त लोक अरु मैं तैं बोली ॥टेक॥
इक झंझर सम सूत खटोला,
त्रिस्ना बाव चहूँ दिसि डोला ॥
पाँच कहार का मरम न जाना,

एकै कह्या एक नहीं माना ॥
भूभर घाम उहार न छावा,
मेंहर जात बहुत दुख पावा ॥
कहै कबीर बर बहु दुख सहिए,
राम प्रीति करि सगही रहिये ॥

२५

मन रे अह रवि बाद न कीजै, अपना सुकृत भर भर लीजै ॥टेक॥
कुंभरा एक कमाई माटी, बहु बिधि जुगति बणाई ॥
एकनि में मुकताहल मोती, एकनि ब्याधि लगाई ॥
एकनि दीना पाट पटबर, एकनि सेज निवारा ।
एकनि दीनी गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा ॥
साची रही सूम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी ।
अंतकाल जब आइ पहूँता, छिन मैं कीन्ह न बेरी ॥
कहत कबीर सुनौं रे संता, मेरी मेरी सब झूठी ।
चड़ा चोंथड़ा चूहड़ा ले गया तणीं तणगती टूटी ॥

२६

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरी जीव ॥टेक॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बडे मैं छुटक लहुरिया
किया श्रृंगार मिलन कै तांई,
काहे न मिलौ राजा राम गुसाई
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ,
कहै कबीर भौ-जलि नहीं आऊँ

२७

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई ।
जा दिन तेरो कोई नाहीं ता दिन राम सहाई ॥टेक॥

तत न जानूं मत न जानूं, जानूं सुंदर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया॥
बेद न जानूं भेद न जानूं, जानूं एकहि रामा।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा, मुख कीन्हौं जितनामा॥
राजा अंबरीष कै कारणि, चक्र सुदरसन जारैं।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ, भगत की सरन उबारैं॥

२८

जदि जाव ऐसा जीवना, राजा राम सूं प्रीति न होई।
जन्म अमोलिक जात है, चेति न देखै कोई॥टेक॥
मधुमाषी धन संग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे।
गयौ गयौ धन मूंढ जना, फिर भी पीछैं पछिताई रे॥
विषिया सुख के कारनै, जाइ गनिका सूं प्रीति लगाई।
अंधै आग न सूझई, पढि पढि लोग बुझाई॥
एक जनम के कारणै, कत पूजौ देव सहसो रे।
कहै कबीर चित चंचला, सुनहु मूढ मति मोरी।
विषिया फिरि फिरि आवई, राजा रा मन मिलै बहोरी॥

२९

का नागें का बांधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम राम॥टेक॥
नागें फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई॥
मूंड मुडायें जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड न पहुँती होई॥
ब्यद राखि जे खेलै है भाई, तो षुसरै कौण परम गति पाई॥
पढ़ गुने उपजै अहंकारा, अधर डूबे धार न पारा॥
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई॥

३०

अयक कहांणि प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुस्काई॥टेक॥
भोमि बिनां अरु बीज बिन, तरवर एक भाई।

अनत फल प्रकासिया, गुरु दीया बताई ॥
मन थिर बैस बिचारिया, रामहि ल्यौ लाई ।
मूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई ॥
कहै कबीर सकति कछु नाहीं, गुरु भया सहाई ।
आवण जाणी मिट गई, मन मनहि समाई ॥

३१

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नाहिन बूझै ।
बिन हाथनि पाइन बिन काननि, बिन लोचन जग सूझै ॥टेक॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहीं छाडै, दहदिसिहि फिरि आवै ॥
बिन हीं ताली ताल बजावै, बिन मदल षट ताला ।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ॥
बिना चोलनै बिना कचुकी, बिनही सग सग होई ।
दास कबीर औसर भल देख्या, जानैगा जन कोई ॥

३२

अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का करै नबेरा ॥टेक॥
तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूला फला फल लागा ।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा ॥
पैर बिन निरति करा बिन बाजै, जिभ्या हींणा गावै ॥
गावण हारे के रूप न देखा, सतगुर होइ लखावै ॥
पषी का षोज मींन का मारग, कहै कबीर बिचारी ।
अपरपार पार परसोतम, या मूरति की बलिहारी ॥

३३

तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध और लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई ॥टेक॥
राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया ।
चौथे पद को जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ।

असतुति निंदा आसा छांड़ै, तजै मान अभिमांनां ।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानां ॥
च्यंतै तौ माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमैं उदासा ।
त्रिस्ना अरु अभिमांन रहित है, कहै कबीर सो दासा ॥

३४

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजनराया ।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥टेक॥
समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगनां ।
रविससि दोउ एकै नाहीं, बहत नांहीं पवनां ॥
नाद नांहीं, ब्यंद नांहीं, काल नहीं कामा ।
जब तें जल ब्यंब न होते, तब तूं हीं राम राया ॥
जप नाहीं, जोग ध्यान नहीं पूजा ।
सिव नाहीं सकती नांहीं, देव नहीं दूजा ।
रूग न जुग न स्याम अथरबन, बेद नहीं ब्याकरनां ।
तेरी गति तूं ही जांनै, कबीरा तो सरनां ॥

३५

म सासने पीव गौंहनि आई ।
साईं संगि साध नहीं पूगीं गयौ जोबन सुपना की नाईं । टेक॥
पंचजना मिलि मंडप छायौ, तीनि जना मिलि लगन लिखाई ।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथैं हलद चढ़ाई ॥
नानां रंगैं भांवरि फेरी गांठि जोरि बाव पतिताई ।
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह चौक के रंगि धर्यौ सगौ भाई ॥
अपने पुरिष मुख कबहू न देख्यौ, सती होत समझी समझाई ।
कहै कबीर हूं सर रचि मरहू, तिरौं कंत ले तूर बजाई ॥

३६

मींठीं मींठी माया तजी न जाई,
अग्यानीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥टेक॥

निरगुण सगुण नारी, ससारि पियारि,
लषमणि त्यागी गोरषि निवारी ॥
कीडी कुजर मैं रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहू न खाई ॥
कहै कबीर पद लेहु बिचारी,
ससारि आइ माया किनहू तक कहीं पारी ॥

३७

झूठा लोग कहै घर मेरा ।
जा घर माहै बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ।।टेक।।
बहुत बध्या परिवार कुटब मैं, कोई नहीं किसकेरा ।
जीवत आंषि मू दि किन देखौ, ससार अध अँधेरा ॥
बस्ती मैं थैं मारि चलाया, जगल किया बसेरा ।
घर कौं खरच खबरि नहीं भेजी, आप न कीयर फेरा ॥
हस्ती घोडा बैल बाहणीं, सग्रह किया घणेरा ।
भीतर बीबी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा ॥
बाजी की बाजीगर जांनै, कै बाजीगर का चेरा ।
चेरा कबहू उसकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ॥
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै जनमि जनमि उरझेरा ।
कहै कबीर एक राम भजहुरे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ।

३८

नाइ रे दिन हौं दिन देहा करलै बौरी राम सनेहा ।।टेक।।
बालापन गयौ जोबन जासी जुरा मरण भौं सकट आसी ।
पलटे केस नैंन जल छाया, मूरिखि चेंति बुढ़ापा आया ।
रांम कहत लज्या क्यू कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै ॥
लज्या कहै हूँ जम की दासी, एकै हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी ॥
कहै कबीर तिहू सब हार्‌या, राम नांम जिनि मनहु बिसार्‌या ॥

३९

हरि की नांव न लेइ गवारा, क्या सोचे बारंबारा ।।टेक।।
पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटें दिवसर संझा ।।
जो गढ़पति मुहकम होई, तौ लूट न सके कोई ।।
अंधियारै दीपक चाहिये, तौ दरपन मंजन रहिये ।।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ।।
का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुनियें ।।
पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजें पाया सोई ।।
कहै कबीर मैं जाना मन पतियाना ।।
पतियाना जो न पतीजै, तौ अंधै कूं का कीजै ।।

४०

राम राइ सो गति भई हमारी मैं छूटत नहीं संसारी ।।टेक।।
ज्यूं पंखी उडि जाय अकासा, आस रही मन माहीं ।।
छूटी न आस टूटयौ नहीं फंदा, उडिबौ लागौ काहीं ।।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछु बनि आवै ।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग आपैं आप बंधावै ।।
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी ।
इत भैभीत डरौं जमदूतनि आयै सरनि तुम्हारी ।।

४१

इब न रहूं मा टीके घर मैं इब मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं ।।टेक।।
छिन हर घर अरु भिरहर टाटी घन गरजत कंपै मेरी छाती ।।
दसवै द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ।।
चहुं दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ।।
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भानड घडण संवारण सोई ।।

४२

इहि बिधि राम सूं ल्यौ लाइ ।
चरन पापैं निरति करि, जिभ्या बिना गुंण गाइ ।।टेक

जहाँ स्वाँति बूँद न सीप साइर, सहज मोती होइ ॥
उन मोतियन में नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ ॥
जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द सूरज मेल ।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि ॥
एक बिरषि भीतरि नदी चालि, कनक कलस समाइ ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदे भई बनराइ ॥
जहाँ बिछटयौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ॥

४३

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥टेक॥
बेध्यौ जीव बिरह कै भाले, राति दिवस मेरे उर सालै ॥
को जानै मेरे तन की पीरा सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा ॥
तुम्ह से बैद न हम से रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै बियोगी ॥
निस बासर मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले राम राई ॥
बहुत कबीर हमकौं दुख भारी ।
बिन दरसन क्यूँ जीवहि मुरारी ॥

४४

वे दिन कब आवैंगे भाइ,
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ॥टेक॥
हौं जानूँ जे हिल मिल खेलूँ तन मन प्रान समाइ ।
या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ ॥
माँहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैनि बिहाइ ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाई ॥
यहु अरदास दास की सुनियै, तन की तपति बुझाई ।
कहै कबीर मिलै जे साँई, मिलि करि मंगल गाइ ॥

३९

हरि को नांव न लेहु गवारा, क्या सोचे बारबारा ॥टेक॥
पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटें दिवसर संझा ॥
जो गढ़पति मुहकम होई, तौ लूट न सकै कोई ॥
अंधियारै दीपक चाहिये, तौ दरपन मजन रहिये ॥
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥
का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुनियें ॥
पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजैं पाया सोई ॥
कहै कबीर मैं जाना, मन पतियाना ॥
पतियाना जौ न पतीजै, तौ अंधै कू का कीजै ॥

४०

राम राइ सो गति भई हमारी, मैं छूटत नहीं ससारी ॥टेक॥
ज्यूं पखी उड़ि जाय अकासां, आस रही मन माहीं ॥
छूटी न आस टूट्यौ नहीं फंदा, उडिबौ लागौ काहीं ॥
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछु बनि आवै ।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग आपै आप बंधावै ॥
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी ।
इन भैभीत डरौं जमदूतनि, आये सरनि तुम्हारी ॥

४१

इब न रहूं मा टीके घर मैं इब मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं ॥टेक॥
छिन हर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ॥
दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥
चहुं दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भानड़ घड़ण सवारण सोई ॥

४२

इहि विधि राम सूं ल्यौ लाइ ।
चरन पावै निरति करि, जिभ्या बिना गुण गाइ ॥टेक॥

जहाँ स्वाँति बूँद न सीप साइर, सहज मोती होइ ॥
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अवर घोइ ॥
जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द सूरज मेल।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हँसा केलि ॥
एक बिरष भीतरि नदी चालि, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ॥
जहाँ बिछटयौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठौ जाइ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ॥

४३

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहियें,
लागी चोट बहुत दुख सहियें ॥टेक॥
बेध्यौ जीव बिरह के भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ॥
को जानैं मेरे तन की पीरा सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा ॥
तुम्ह से बैद न हम से रोगी, उपजी बिथा कैसें जीवैं बियोगी ॥
निस बासर मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले राम राई ॥
कहत कबीर हमकौं दुख भारी।
बिन दरसन क्यूँ जीवहि मुरारी ॥

४४

वै दिन कब आवैंगे भाइ,
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ॥टेक॥
हौं जांनूं जे हिल मिल खेलूं तन मन प्रान समाइ।
या कांमनां करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैंनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाई ॥
यहु अरदास दास की सुनियें, तन की तपति बुझाई।
कहै कबीर मिलै जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ ॥

४५

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।।टेक।।
सब को कहै तुम्हारी नारी, मो कौं इहै अदेह रे ।
एक मेक ह्वै सेज न सौवै तब लग कैसा नेह रे ।।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे ।
ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे ।।
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे ।।

४६

माधो कब करि हौ दया ।
काम क्रोध अहंकार व्यापै, ना छूटै माया ।।टेक।।
उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थैं कबहूँ सच नहीं पायौ ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं, इन संगि जनम गँवायौ ।।
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी, लहरी वार न पारा ।
सो गारडू मिल्यौ नहीं कबहूँ पसर्‌यौ विष विकराल ।।
कहै कबीर यहु कासूँ कहिये, यह दुख कोइ न जानैं ।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मानैं ।।

४७

राम बिना संसार धंध कुहेरा,
सिरि प्रगटा जम का पेरा ।।टेक।।
देव पूजि पूजि हिन्दू मूये, तुरक मूये हज जाई ।
जटा बाँधि बाँधि योगी मूये, इन मैं किनहूँ न पाई ।।
कवि कबीनैं कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई ।
केस लूंचि लूंचि मूये, बरतिया, इनमैं किनहूँ न पाई ।।
धन संचते राजा मूये, अरु ले कंचन भारी ।
बेद पढ़ें पढ़ि पंडित मूये, रूप भूले मूई नारी ।।
जे नर जोग जुगति करि जानैं, खोजैं आप सरीरा ।

तिन कूं मुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ॥

४८

हरि कौ बिलोवनों बिलोइ मेरी भाई,
ऐसैं बिलोइ जैसैं तत न जाई ॥टेक॥
तन करि मटकी मनहिं बिलोइ, तामटकी मैं पवन समोइ ॥
इला प्यंगुला सुषमन नारी, बेगि बिलोइ ठाढी छछि हारी ॥
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं ॥

४९

राम भजै सो जानिये, जाके आतुर नाहीं,
सत संतोष लीयें रहै, धीरज मन मांहीं ॥टेक॥
जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै ।
प्रफुल्लित आनन्द में, गोब्यंद गुण गावै ॥
जन कौं पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै ।
काल कलपना मेटि करि, चरनूं चित राखै ॥
जन सम दृष्टि सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनै ॥
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मानै ॥

५०

सो जोगी जाकै सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध बिषिया न बाद ॥
मन मुद्रा जा कै गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान ॥
मनहीं करन कौ सनान, गुर को सबद ले ले धरै धियान ॥
काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयौ परकास ॥
ग्यान मेषली सहज भाइ बंक नालि कौ रस खाई ॥
जोग मूल कौ देह बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद ॥

५१

लोका मति के भोरा रे ।
जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामहि कहा निहोरा रे ॥टेक॥

तब हम वैसे, अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा॥
राम भगति परिजा कौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतैं जाइ जुलाहा॥
कहै कबीर सुनहुं रे संतो, भ्रमि परे जिनि कोई॥
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै राम सति होई॥

५२

जन की पीर हो राजा राम भल जानै,
कहूं काहि को मानै।
नैन का दुख बैन जानैं, बैन का दुख श्रवना।
प्यंड का दुख प्रान जानै, प्रान का दुख मरना।
आस का दुख प्यासा जानै, प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख राम जानै, कहै दास कबीर।

५३

बिरहनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिना कुछ समझ न परई, बाझ न जानैं पीरा।
या बड बिथा सोई भल जानै, राम बिरह सर मारी।
कै सो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी।
संग की बिछुरी मिलन न पावै, सोच करै अरु काहै।
जतन करै अरु जुगत बिचारै, रटै राम कूं चाहै।
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूं तल्पै, मिलैं भलैं सचु पावै।

रमैनी

पहिले मन मैं सुमिरौ सोई। ता सम तुलै अवर नहिं कोई॥
कोई न पूजै वासौं प्रांनी। आदि अन्ति सो किनहुँ न जांनी॥
रूप अरूप न आवै बोला। हरू गरू कछु जाइ न तोला॥
भूख न त्रिखा धूप नहिं छांहीं। दुख सुख रहित रहै सब मांहीं॥
अविगत अपरपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांम॥
बहुत बिचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम॥ १॥

तब नहिं होते पवन पवन न पांनी। तब नहिं होतीं सिरिस्टि उपांनी॥
तब नहिं होते पिंड न बासा। तब नहिं होते धरनि आकास॥
तब नहिं होते गरभ न मूला। तब नहिं होते कली न फूला॥
तब नहिं होते सबद न स्वादा। तब नहिं होते बिद्या न बेदा॥
तब नहिं होते गुरू न चेला। गम अगम यहु पंथ अकेला॥
अवगति की गात क्या कहूं, जिस कर गांउं न ठांउं।
गुन बिहून का पेखिए, का कहि धरिए नांउं॥ २॥

जिन कलमां काल माहि पढावा। कुदरात खोज तिनहुँ नहिं पावा॥
करम करीम भए करतूता। बेद कुरांनि भए दोउ रीता॥
किरतिम सो जु गरभ अवतरिया। किरतिम सो जो नांमहिं धरिया॥
किरतिम सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरक न जांनैं भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जांनै। मति भुलांनि दुइ दीन बखांनैं॥
पांनी पवन संजोइ करि, कीया है उतपाति।
सुन्नि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिए जाति॥ ३॥

अलख निरंजन लखै न कोई । जेहि बंधे बंधा सब लोई ॥
जेहि झूठ बंधायो आनी । झूठी बात साँच कै जानी ॥
धंध बंध कीन्हें बहुतेरा । करम बिबरजित रहै न तेरा ॥
खट आस्रम खट दरसन कीन्हा । खट रस बाटि करम सँगि बीहा ॥
चार बेद छ सास्त्र बखानैं । बिद्या अनंत कथैं को जानैं ॥
तप तीरथ कीन्हें ब्रत पूजा । धरम नेम दान पुनि दूजा ॥
और अगम कीन्हें बेवहारा । नहिं गमि सूझै वार न पारा ॥

मया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ ।
झूठैं झूठ बिया पिया, अलख न लखई कोइ ॥ ४ ॥